पुस्तक-विक्रेता
नंदकिशोर एंड ब्रदर्स
चौक, बनारस।

प्रथम संस्करण
वसंत-पंचमी, २००० वि०
मूल्य २)

मुद्रक—
वी० के० शास्त्री;
ज्योतिष प्रकाश प्रेस, काशी।
४४०७ b
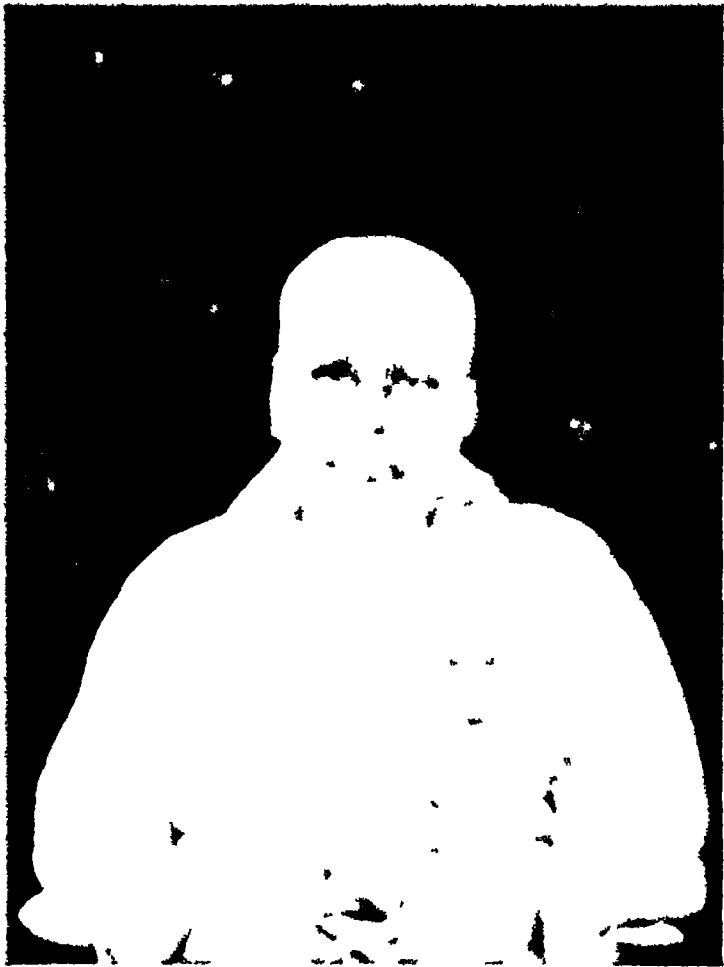
वक्तव्य

स्वर्गीय आचार्य शुक्लजी सूरदासजी की विस्तृत आलोचना करनेवाले थे। 'भ्रमरगीत-सार' की भूमिका के रूप में प्रकाशित 'महाकवि सूरदासजी' शीर्षक निबंध के अंत में उन्होंने लिखा भी था—'भ्रमरगीत' की भूमिका के रूप में ही यहाँ सूर के सम्बन्ध में कुछ विचार संक्षेप में प्रकट किए गए हैं। आशा है विस्तृत आलोचना का अवसर भी कभी मिलेगा।" इस विस्तृत आलोचना के लिखने में उन्होंने हाथ भी लगा दिया था। 'भक्ति का विकास' और 'श्रीवल्लभाचार्य्य' शीर्षक दो अध्याय लिख भी डाले थे। पर क्रूर काल के अकाल आक्रमण के कारण सूरदासजी की बृहत् समीक्षा वे पूरी न कर सके। इसे 'हिंदुस्तानी एकेडेमी' प्रकाशित करना चाहती थी।

शुक्लजी पेंसिल से लिखा करते थे, बहुत साफ, बिंदु-विसर्ग के सुस्पष्ट उल्लेखपूर्वक। उक्त अमुद्रित अंश के साथ सूरदासजी का जीवनवृत्त तथा श्रीवल्लभाचार्यजी के संबंध की कुछ और बातें 'हिंदी साहित्य का इतिहास' के प्रवर्धित संस्करण से लेकर प्रस्तुत पुस्तक में जोड़ दी गई हैं। सूरदासजी के काव्य की समीक्षा इसमें वही है जो पहले 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' में प्रकाशित हुई थी और बाद में 'भ्रमरगीत-सार' की भूमिका के रूप में मुद्रित की गई थी। वर्णविन्यास और विरामचिह्न सर्वत्र पांडुलिपि की लेख-प्रणाली के अनुसार ही रखे गए हैं। यथास्थान संस्कृत के मूल ग्रंथों से पादटिप्पणी में उद्धरण भी बढ़ा दिए गए हैं। बड़े कोष्ठकों '[ ]' से घिरे अंश मेरी ओर से बढ़े हैं। श्रीवल्लभाचार्य्य शीर्षक अध्याय के अंत का पत्र ऊपर की ओर से फट गया है। त्रुटित अंश की पूर्ति में प्रयुक्त पदावली अनुमानाश्रित है और बड़े कोष्ठकों से घिरी है।

'इतिहास' के प्रवर्धित संस्करण में सूरदासजी का जीवनवृत्त पुराने संस्करण की अपेक्षा विस्तृत किया गया है जिसके देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस संबंध में भी उन्होंने अधिक सामग्री जुटाई थी, पर उसका पता नहीं चला। सूरदासजी की काव्य-समीक्षा लिखने के लिए उन्होंने वेंकटेश्वर प्रेस वाले 'सूरसागर' के संस्करण के हाशिये पर अनेक पदों के सामने अपने विचार लेखबद्ध किए हैं। अगले संस्करण में उन टिप्पणियों को भी उन पदों के साथ इसमें संमिलित कर देने का विचार है।

शुक्लजी की एक अधूरी पुस्तक 'साहित्य-मीमांसा' पर भी है, जिसमें रस आदि के शास्त्र-पक्ष का विचार स्वच्छंद चिंतन के रूप में किया गया है। उसकी पांडुलिपि भी पेंसिल से ही लिखी हुई है और जर्जर अवस्था में पड़ी है। आशा है उनके सुयोग्य पुत्र पं० केशवचंद्रजी शुक्ल उसे भी शीघ्र ही प्रकाशित करने का प्रबंध कर देंगे, जिस प्रकार उन्होंने इसे प्रकाशित कराने की व्यवस्था कर दी है। शुक्लजी की गद्य-पद्य समस्त कृतियों की ग्रंथावली शीघ्र निकल जानी चाहिए। हम लोगों ने बहुत दिन बिता दिए।

शुक्लजी के निरीक्षण में साहित्य-समीक्षा का एक पत्र भी काशी से प्रकाशित होनेवाला था, जिसके प्रकाशन की सारी योजना प्रस्तुत हो गई थी। पत्र का नामकरण भी उन्हीं ने किया था— 'मानदंड'। पर उनके आकस्मिक निधन से वह उस समय प्रकाशित न हो सका। बाद में सोचा गया कि उनकी स्मृति में इसे प्रकाशित किया जाय, पर युद्धकालजन्य कागज के अकाल से अभी तक वह व्यवस्था भी न हो सकी। आशा करता हूँ, बहुत शीघ्र उसका भी प्रकाशन हो सकेगा।

ब्रह्मनाल, काशी।
वसंत-पंचमी, २००० वि० } विश्वनाथप्रसाद मिश्र

सूची

सूरदास

धर्म का हृदय

या

भक्तिमार्ग

भक्ति का विकास

विचार करने पर प्रत्येक धर्म के तीन क्षेत्र दिखाई पड़ते हैं—

१ आप्त शब्द—जिसका शासन कर्म तथा थोड़ा बहुत बुद्धि पर भी पाया जाता है,

२ बुद्धि—जो मार्ग-निश्चय करती है,

३ हृदय—जिसकी उमंग में लोग उस मार्ग को जगमगाते हुए आप से आप चले चलते हैं।

धार्मिकों में से कुछ की दृष्टि तो केवल शब्द या शासनक्षेत्र तक ही पहुँच पाती है जिसमें सुख का लोभ, दुःख का भय साथ लिए, दौड़धूप कराया करता है। यमराज के डंडे के डर से प्रवृत्ति होने पर भी वे बहुत से ऐसे दुष्कर्मों से हाथ खीचते हैं जिन्हें कानून जुर्म नहीं कहता; स्वर्गसुख-भोग के लालच से वे कभी कभी भीतरी प्रवृत्ति न होने पर भी ऐसे पुण्यकार्य्यों का अनुष्ठान करते हैं जिन्हें न करना कोई पातक या निन्दा की बात

नहीं समझी जाती। ये नीची श्रेणी के धार्मिक हैं। गरुड़पुराण और बाबा रघुनाथदास के विश्रामसागर में जो यमपुरी का वर्णन है वह ऐसे ही लोगों के लिए है। रामचरितमानस के उत्तर-कांड का वह प्रकरण जिसमें "हरिगुरु-निंदक दादुर होई" इत्यादि है, भावुक भक्तो के लिए नहीं है।

जिस प्रकार पालन के फल का लोभ और उल्लंघन के दंड का भय दिखा कर धर्म का शासन-पक्ष आज्ञा करता है कि 'ऐसा करो; ऐसा न करो' उसी प्रकार धर्म का बुद्धि-क्षेत्र विवेक को सम्बोधन करके समझाता है कि "ऐसा करना चाहिए और ऐसा नहीं करना चाहिए; ऐसा करना उचित है और ऐसा करना अनुचित"। शुष्क धार्मिकों में से कुछ लोग तो शासनक्षेत्र ही तक रह जाते हैं और कुछ लोग थोड़ा और आगे बढ़ कर बुद्धि-पक्ष का अवलंबन करते है। इन दोनो प्रकार के शुष्क धार्मिको से भक्त धार्मिक श्रेष्ठ होते हैं जो धर्म के रसात्मक स्वरूप का साक्षात्कार करते है। शब्दावलंबी शासनपक्ष-दर्शी शुष्क धार्मिक के लिए धर्म राजा है जिसके सामने वह प्रजा की तरह बड़े अदब कायदे के साथ—नियम और विधि के पूरे पालन के साथ—डरता डरता जाता है। बुद्धिपक्ष-दर्शी के लिए धर्म गुरु या आचार्य्य है जिसके सामने वह विनीत शिष्य के रूप में शंका-समाधान करता पाया जाता है। पर भक्त धार्मिक के लिए धर्म प्यार से पुकारनेवाला पिता है। उसके सामने वह भोले भाले छोटे बच्चे की तरह जाता है; कभी उसके ऊपर लोटता है, कभी

सिर पर चढ़ता है, यहाँ तक कि कभी कभी दाढ़ी भी पकड़ लेता है। वह धर्म को प्यार करता है; धर्म उसे अच्छा लगता है। उसका आनन्दलोक भी शुष्क धार्मिकों के स्वर्ग से ऊपर है। वह प्रिय या उपास्य का सामीप्य है।

धर्म के इस अन्तिम रसात्मक पक्ष तक मनुष्य का हृदय उपास्य के स्वरूप की उन्नत भावना के उपरान्त पहुँचा है। असभ्य दशा में पड़ी हुई जातियों के बीच देवता एक ऐसा शासक था जो पूजा से तुष्ट हो कर ही रक्षा और कल्याण करता था और पूजा न पाने पर रुष्ट हो कर अनिष्ट करता था। उनकी पूजा भय और लोभ की प्रेरणा से ही की जाती थी। वनदेवता, ग्रामदेवता, कुलदेवता इसी प्रकार के उपास्य थे। जो प्राचीन जातियाँ सभ्य दशा में थीं उन्होंने सूर्य्य, चन्द्र, अग्नि, वायु इत्यादि प्राकृतिक शक्तियों को उपास्य ठहराया था जो बराबर उपकार ही किया करती थीं, पर रुष्ट होने पर अनिष्ट भी करती थीं। अतः सामान्यतः उपकार में तत्पर ऐसी शक्तियों की पूजा में कृतज्ञता का भाव भी कुछ रहता था जो भय और लोभ से उन्नत भाव था। अत. ऐसे देवताओं की उपासना में धर्म के स्वरूप का आभास मिलता है। उपास्य के इस उपकारी स्वरूप के भीतर अखिल विश्व के पालक और रक्षक भगवान् के व्यापक स्वरूप की भावना का अंकुर छिपा था।

इस भवसागर में वहता हुआ मनुष्य आदिम काल से ही कभी सुख की तरंगों में उछलता और कभी दुःख के भँवर में चक्कर

खाता चला आ रहा है। प्रयत्न उसका बराबर से यही रहा है कि सुख की तरंगों में उछले और दुःख के भँवर में पड़ने से बचे। पर कभी तो वह लाख प्रयत्न—शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के—करने पर भी दुःख के आवर्त्त में पड़ ही जाता और कभी अनायास अपने को सुख के शिखर पर पाता। इस दशा में इतनी बुद्धि का उदय तो अनिवार्य्य था कि सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति-वाले संयोग सर्वथा अपने प्रयत्न के अधीन नहीं हैं। इसके आगे उसकी समझ के लिए दो रास्ते थे। या तो ऐसे संयोग यों ही हो जाया करते हैं अथवा कुछ परोक्ष शक्तियों के द्वारा उपस्थित किए जाते हैं। पहली बात तो आदिम मनुष्य के मन में न धँसी। दूसरी बात को ले कर ही उसने वनदेवता, ग्रामदेवता, कुलदेवता इत्यादि की पूजा को अपने बाह्य जीवन का एक अंग बनाया। जो आदिम जातियाँ असभ्य या वन्यदशा में थी उनकी परिमित भावना स्थानबद्ध या कुलबद्ध देवी-देवताओं तक ही रहती थी। वे इससे बड़े देवता की व्यापक भावना नहीं रखती थी। सभ्य जातियों में भी जो ज्ञान की बहुत नीची श्रेणी के लोग हैं वे अपने योगक्षेम के लिए ग्रामदेवता, कुलदेवता आदि का ही अनुग्रह प्राप्त करने का उद्योग करते हैं। जिन जातियों में कुलदेवता में ही पूर्ण ऐश्वर्य्य का आरोप करके पीछे एकेश्वरवाद चला उनमें उसका स्वरूप कुछ संकुचित रहा।

'यह्वा' पहले प्राचीन यहूदी जाति की एक शाखा का साधारण कुलदेवता था जिसे इसराईल के वंशवाले बलि चढ़ाया करते थे।

उसकी शक्ति और उसका ज्ञान परिमित था। जब मिस्रदेश के राजा ने इसराईलवंश-वालों को बहुत सताया तब उन्होंने उस कुलदेवता की दुहाई दी। यह्वा ने आकाशवाणी द्वारा कहा "अच्छा आज रात को मैं बहुत से मिस्रियों का नाश करूँगा। पर एक काम करना। बलिदान करके पहचान के लिए अपने अपने दरवाज़ों पर रक्त का छापा लगा देना जिसमें उन घरों को मैं बचा जाऊँ"। पीछे हज़रत मूसा पैग़ंबर द्वारा उसी 'यह्वा' पर सर्वशक्तिमत्ता और सर्वज्ञता का आरोप किया गया और वह जमीन और आसमान का बनानेवाला ख़ुदा हुआ। इस प्रकार प्राचीन काल में लाल समुद्र के आसपास बसनेवाली जातियों में कुलदेवता की भावना 'एकेश्वरवाद' (Monotheism) तक पहुँचाई गई।

प्राचीन आर्य्य जाति ने आरम्भ ही से सम्पूर्ण जगत् में कार्य्य करनेवाली प्राकृतिक शक्तियों को देवरूप में ग्रहण किया था। अतः आगे चल कर उन सब देवताओं का तत्त्वदृष्टि से एक में समाहार करके 'ब्रह्मवाद' (Monism) की प्रतिष्ठा हुई। मंत्रकाल में ही अग्नि, वायु, वरुण, इन्द्र इत्यादि एक ही ब्रह्म के नाना रूप माने जा चुके थे—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यस्स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नि, यमं, मातरिश्वानमाहुः।

(ऋग्वेद १–२। १६४–६४)

उपनिषत्काल में एक ब्रह्म की भावना पूर्णता को पहुँची और "सर्व

खल्विदं ब्रह्म", "नेह नानास्ति किञ्चन", "तत्त्वमसि" इत्यादि महावाक्यों का पूरा प्रचार हुआ। इसी रीति से बाबुल की प्राचीन खाल्दी (Chaldeans) जाति के बीच एक ईश्वर की भावना का विकास हुआ था। बाबुल के खँडहरों में मिले ईसा से २००० वर्ष पूर्व के एक लेख में वहाँ के भिन्न भिन्न देवता एक ही प्रधान देवता मर्दुक के भिन्न भिन्न रूप कहे गए हैं—

नर्गल युद्ध का मर्दुक है। बेल राजसत्ता का मर्दुक है।
शम्श धर्म का मर्दुक है। श्रदु वर्षा का मर्दुक है।

मनुष्य जाति में देवभावना के उपर्युक्त दो प्राचीन रूप थे। असभ्य दशा से न निकली हुई जातियाँ तो अपने देवताओं की वृत्ति अपनी वृत्ति से ऊँची नहीं समझती थीं। वे यही मानती थीं कि देवता केवल पूजा से प्रसन्न होने पर ही भलाई करते हैं और पूजा न पाने पर घोर अनिष्ट करते हैं। सभ्य जातियाँ उन प्राकृतिक शक्तियों की उपासना करती थीं जिनकी उपकारी प्रवृत्ति से जीवन की रक्षा और निर्वाह होता था, जैसे, सूर्य्य, इन्द्र, अग्नि, वायु, पृथ्वी इत्यादि। वे प्रत्यक्ष अनुभव करती थीं कि इनके द्वारा जगत् में प्रकाश फैलता है, पृथ्वी शीतल और धनधान्यपूर्ण होती है, शीत और पशुभय दूर होता है। अतः दैत्यों और दस्युओं का पराभव भी वे उन्हीं के परोक्ष प्रभाव से समझती थीं। साथ ही अतिवृष्टि, अनावृष्टि, गोधन का क्षय इत्यादि का कारण भी उन्हीं का कोप समझा जाता था। इस प्रकार अत्यन्त प्राचीन काल के

मनुष्यों में देवता ऐसे शासक के रूप में थे जिनकी प्रसन्नता और अप्रसन्नता का सम्बन्ध पूजा के साथ ही था, मनुष्य के शील या आचरण के साथ नहीं। इसी के अनुरूप पूजा का उद्देश्य भी अपना सुख रहता था। पहले तो सुख इसी लोक का सुख या 'अभ्युदय' था। पर आगे चल कर जब परलोक की भावना हुई तब परलोक के सुख या 'निःश्रेयस' की कामना भी होने लगी। इस निःश्रेयस की भावना के साथ ही पूजा का विधान अधिक वृहत् होने लगा और उसमें लोकहित-साधन का भी कुछ समावेश हुआ। बड़े बड़े यज्ञ होने लगे जिनमें सैकड़ों गाएँ तथा और बहुत तरह के सामान ब्राह्मणों को दान दिए जाते थे। दान की योजना द्वारा पूजा का स्वरूप कुछ अवश्य परिष्कृत और उन्नत हुआ, उसमें लोकोपकार का अवयव आ गया।

इतना होने पर भी प्राचीन देवपूजा में देवताओं के ये ही दो कार्य्य-लक्षण कहे जा सकते हैं—(१) देवता केवल पूजा पाने पर ही उपकार करते हैं, न पाने पर अनिष्ट करते हैं। (२) देवता यों तो बराबर उपकार किया ही करते हैं पर पूजा पाने पर विशेष उपकार करते हैं। इस दशा में अत्यन्त प्राचीन काल के मनुष्यों में देवता के प्रति तीन भाव हो सकते थे—भय, लोभ और कृतज्ञता। इन तीनो भावों में मन सुख की ओर ही उन्मुख रहता है, देवता की ओर नहीं। कृतज्ञता कुछ उदात्त वृत्ति है, पर उसमें भी ध्यान मुख्यतः 'कृत' या किए हुए उपकार पर ही रहता है, उपकार करनेवाले पर नहीं। कृतज्ञ 'कृत' के स्वरूप में

अनुरक्त रहता है; कर्त्ता के स्वरूप में नहीं। लोभ, भय और कृतज्ञता इन तीनो भावों का प्रकाश विनीत वचन, स्तुति और उत्तम द्रव्यों की भेंट द्वारा पूरी तरह से हो जाता है। इन तीनो भावों की प्रेरणा 'पूजा' तक ही पहुँचती है। प्राचीन यज्ञ, जिन्हें 'द्रव्ययज्ञ' कहते हैं, इसी पूजा के विधान हैं। इस विधान में मानस पक्ष या हृदय-पक्ष का पूज्य के साथ पूरा योग नहीं था। मंत्रकाल या वैदिक काल में सामान्य प्रवृत्ति इसी 'द्रव्ययज्ञ' की थी। यज्ञ की ठीक सामग्री इकट्ठी करके विधि का ठीक ठीक पालन कर देने ही से ऐसे यज्ञ सम्पन्न हुआ करते थे।

'द्रव्ययज्ञ' का सामान्य प्रचार होते हुए भी वैदिक काल में ही विशिष्ट जनों में मननशीलता और भावुकता दोनों की प्रवृत्ति भी अवश्य थी। मनन और चिन्तन द्वारा ही मंत्रकाल में सब देवों की उस एकत्व भावना का प्रादुर्भाव हुआ था जो उपनिषत्काल में पूर्णता को पहुँची। जिन देवताओं के निमित्त बड़े बड़े काम्य और नैमित्तिक यज्ञ किए जाते थे, जिन्हें यज्ञों में भाग मिलता था, उनकी स्तुति के अतिरिक्त बहुत से मंत्रों में नदियों, उषा इत्यादि के सम्बन्ध में सौन्दर्य्य-भावना और शुद्ध अनुराग द्वारा प्रेरित रमणीय उक्तियाँ भी हैं जो भावुकता का पता देती हैं। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में ईश्वर की भावना पुरुष के रूप में है। नराकार-भावना (Anthropomorphic Conception) का यह उदय-गीत माना जाता है, इसी से इस सूक्त का पाठ

वैष्णव मन्दिरों में प्रायः हुआ करता है*। शतपथ ब्राह्मण में सहृदयता और भावुकता का कुछ विशेष आभास उपास्य के स्वरूप के साथ साथ धर्म के स्वरूप में भी पाया जाता है। उसमें एक स्थल (१२। ३–४) पर कहा गया है कि 'पुरुष नारायण' ने यज्ञ करके वसुओं, रुद्रों और आदित्यों को इधर उधर सब दिशाओं में भेजा और आप जहाँ के तहाँ स्थिर रहे। इसके आगे एक दूसरे स्थान पर (१३। ६–१) यह भी आता है कि 'पुरुष नारायण' ने ऐश्वर्य्य और सर्वत्व की प्राप्ति करानेवाले पाञ्चरात्र सत्र (पाँच दिनों का एक यज्ञ) की विधि चलाई। इससे स्पष्ट है कि सगुण परमेश्वर का 'नारायण' (नर-समष्टि का आश्रय) नाम ब्राह्मणकाल में ही प्रसिद्ध हो गया था। नारायण सगुण ब्रह्म का वह रूप है जिसकी अभिव्यक्ति जगत् में नर या मनुष्य के रूप में हुई।

इस 'नारायण' स्वरूप तक उपासना किस ढंग से पहुँची है, इसे भी थोड़ा देखना चाहिए। उपनिषद् में हमें मिलता है कि ब्रह्म की उपासना 'अन्न, प्राण, मन, ज्ञान और आनन्द', इन रूपों में करनी चाहिए[1]। अन्नोपासना ब्रह्म को अपनी अन्तस्सत्ता

---

* यही भावना लेकर भागवत में कहा गया है—

जगृहे पौरुषं रूपं भगवान्महदादिभिः।
सम्भूतं षोडशकलमादौ लोक-सिसृक्षया। (१–३–१)

१ [अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्। प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्। मनो ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्।
—तैत्तिरीयोपनिषद्, भृगुवल्ली।]

के बाहर बाह्य जगत् में देखने का विधान है। मन, ज्ञान आदि के रूप में उपासना अपनी अन्तस्सत्ता के भीतर देखने का विधान है। बाहर और भीतर दोनो ओर ब्रह्म को देखने पर ही पूर्णोपासना हो सकती है। भारतीय भक्तिमार्ग में यही पूर्णोपासना की पद्धति गृहीत हुई है। इस मार्ग के भक्त केवल अपने मन के भीतर ही ब्रह्म को नहीं देखते बाहर भी देखते हैं। केवल स्वान्तःस्थ ब्रह्म की ओर उन्मुख योगमार्गियों की देखादेखी निर्गुण-पंथी भक्त अलबत यह कहते पाए जाते हैं कि बाहर वह नहीं मिल सकता अपने भीतर देखो। इसी बात पर गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा था कि—

अंतर्जामिहु तें बड़ि बाहरजामी हैं राम जो नाम लिये तें।
पैज परे प्रह्लादहु के प्रगटे प्रभु पाहन तें न हिये तें।

इसी अन्नोपासना की पद्धति से ब्रह्म की भावना विष्णु-रूप में प्रतिष्ठित हुई। जिस प्रकार अन्न शरीर का भरण पोषण करता है उसी प्रकार विष्णु जगत् का पालन करते हैं। पहले विष्णु के प्रतीक सूर्य्य रहे जो लोक का पालन और भरण करते प्रत्यक्ष देखे जाते हैं। इसके उपरान्त उपास्य के अधिक सान्निध्य की उत्कंठा से, उसे अधिक हृदयाकर्षक रूप में पास लाने की लालसा से, विष्णु की नराकार-भावना 'नारायण' (नर-समष्टि का आश्रय) के रूप में हुई। अब प्रश्न यह हो सकता है कि ईश्वर का पालक और रक्षक रूप ही क्यों लिया गया। क्या यह रूप केवल भक्ति के व्यवहार के लिए आरोप मात्र है? नहीं; यह तात्त्विक रूप

है, आरोप मात्र नहीं है। यद्यपि भगवान् की शक्ति क्षय और नाश भी करती है; पर एक बात है। क्षय का परिणाम नाश कभी और कहीं होता है; पर रक्षा के परिणाम पालन का प्रवाह अखंड और नित्य है। विश्व के भीतर असंख्य खंड-प्रलय होते रहते हैं—न जाने कितने लोक नष्ट होते रहते हैं—पर समष्टि-रूप में विश्व या जगत् बराबर चला चलता है। अतः पालक स्वरूप ही सत्स्वरूप है; नाशक रूप असत्, अनित्य और क्षणिक है। दूसरी बात यह है कि 'उपास्य' के स्वरूप की भावना के अनुरूप ही भक्ति की पुष्ट दशा में उपासक के स्वरूप की परिणति होती है। अतः भक्त की इसी सत्स्वरूप में परिणति ही कल्याण-कारिणी हो सकती है—उसके लिए भी और लोक के लिए भी।

शतपथ ब्राह्मण के उद्धृत वाक्यों से यह साफ दिखाई पड़ता है कि मंत्रकाल में जगत् के बीच अनेक रूपों और व्यापारों द्वारा व्यक्त होनेवाली भिन्न भिन्न शक्तियों का एक समष्टि-शक्ति के रूप में ग्रहण हो जाने के उपरान्त उस समष्टि-शक्ति के स्वरूप के परिचय की किस प्रकार उत्कंठा हुई और किस प्रकार भावुक ऋषि-मंडली हृदयग्राही स्वरूप की भावना की ओर बढ़ी। उपास्य के स्वरूप को जानने के लिए उसकी ओर बुद्धि और कल्पना को दौड़ाना जहाँ से दिखाई पड़े वहीं से मनोयोग या 'ज्ञानयज्ञ' का आरम्भ समझना चाहिए। उपास्य के उदात्त स्वरूप की भावना के अनुरूप ही धर्म की परिष्कृत और उत्कृष्ट भावना का आभास

भी हमें उक्त शतपथ ब्राह्मण में 'पंचमहायज्ञ' के उल्लेख द्वारा मिलता है। इस पंचमहायज्ञ के भीतर नृयज्ञ (आए गए का सेवा-सत्कार) और भूतयज्ञ (छोटे बड़े जीवों को कुछ भोजन का भाग देकर तुष्ट करना) भी है। यद्यपि स्मृतियों ने इन यज्ञों को पंचसूना के प्रायश्चित्त-रूप अर्थात् नैमित्तिक बता कर शासन और शास्त्र-पक्ष के भीतर कर लिया है पर इनके भीतर हृदय साफ झाँक रहा है। अन्य प्राणियां को तुष्ट करने से हृदय की जो तुष्टि होती है उसे हम बिना ऐसे कर्मों का प्रेरक माने रह नही सकते। 'इष्टापूर्त्त' की चर्चा भी हमें शतपथ ब्राह्मण में मिलती है। ब्राह्मणकाल के पूर्व 'इष्टापूर्त्त' का चाहे जो अर्थ रहा हो पर उसके अन्तर्गत तालाब कुएँ खुदाना, रास्ते में पेड़ लगवाना इत्यादि लोकहितकर कर्म बराबर माने जाते रहे हैं।

प्राचीन यहूदी जाति 'द्रव्ययज्ञ' ही तक रही। रूखे सूखे ढंग से विधियों का पालन करना ही उनकी पूजा का स्वरूप रहा। ईसा-मसीह के उपरान्त आराधना में हृदय-पक्ष का योग हुआ। पर बुद्धि-पक्ष या ज्ञान-पक्ष का प्रादुर्भाव ईसाई धर्म में बहुत पीछे प्लेटो आदि के यूनानी दर्शनों का सहारा ले कर हुआ। पर भारतवर्ष में, जैसा कि ऊपर दिखा आए हैं, ईसा से हज़ारो वर्ष पहले ब्राह्मणकाल से ही भाव-समन्वित ज्ञानमार्ग का सूत्रपात हुआ जो उपनिषदों के समय पूर्णता को पहुँचा।

उपनिषत्काल के ज्ञानकांड में दो मार्ग दिखाई पड़ते हैं। एक तो हृदय-पक्ष को बिल्कुल छोड़ कर केवल बुद्धि या विशुद्ध ज्ञान को

ले कर चला और दूसरा हृदय-पक्ष समन्वित ज्ञान को ले कर। इस प्रवृत्तिभेद के अनुसार कहीं तो—जैसे बृहदारण्यक, कठोपनिषद् आदि में—प्रतिवर्त्तन (Reaction) के रूप में यज्ञादि कर्मों से पूरी विरक्ति है और केवल मनन या चिन्तन का मार्ग ही स्वीकार किया गया है। यह मार्ग कर्म और ज्ञान में नित्य विरोध मान कर साधना के लिए कर्मों का सर्वथा त्याग, रागों या मनोविकारों का पूर्ण दमन, आवश्यक ठहराता है और ब्रह्म की केवल अव्यक्त और निर्गुण सत्ता ले कर चलता है। दूसरी ओर ईशावास्यादि उपनिषद् ज्ञान के साथ ही. साथ कर्म का भी, निष्काम कर्म का भी, उपदेश देते है। इस प्रकार ज्ञानमार्ग की दो शाखाएँ दिखाई पड़ती हैं—निवृत्ति-परक ज्ञानमार्ग और कर्म-परक ज्ञानमार्ग।

इसी कर्म-परक ज्ञानमार्ग से, जिसमें कर्म के साथ बुद्धि और हृदय दोनो का योग आवश्यक ठहराया गया था, आगे चल कर भक्ति का विकास हुआ। छान्दोग्य आदि प्राचीन उपनिपदो में परब्रह्म के ज्ञान के लिए ब्रह्म-चिन्तन आवश्यक कहा गया है। उपर्युक्त दो प्रवृत्तियो के अनुसार इस ब्रह्म के दो प्रकार के स्वरूप उपनिषदों ही में कथित मिलते हैं। कहीं तो वह "मनोमय, प्राणशरीर, भारूप, सत्यसंकल्प, आकाशात्मा, सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगंध, सर्वरस" (छान्दोग्य ३–१४–२)[१],

---

१ [मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्ध· सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः।]

सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् इत्यादि कहा गया है और कहीं "अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अरस और अगन्ध" (कठ ३-१५)[1]। कहीं 'अन्न, प्राण, मन, ज्ञान और आनन्द' इन रूपों में ब्रह्म की उपासना बताई गई है और कहीं वही ब्रह्म "अद्रेश्यं, अग्राह्यम्" (मुंडक १-१-६)[2] कहा गया है। इस प्रकार ब्रह्म कहीं सगुण और व्यक्त कहा गया है, कही निर्गुण और अव्यक्त। इसके अतिरिक्त बहुत जगह ब्रह्म उभयात्मक अर्थात् विरुद्धधर्मयुक्त कहा गया है, जैसे—

> द्वेवाव ब्रह्मणो रूपो मूर्त्तञ्चैवामूर्त्तञ्च,
> मर्त्यञ्चामृतं च, स्थितं च, यच्च, सच्च, त्यच्च,
>
> (बृहदारण्यक०)
>
> तदेजति तन्नैजति, तद्दूरे तद्वदन्तिके।
> तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।
>
> (ईशावास्योपनिषद्)
>
> अणोरणीयान् महतो महीयान्,
> आत्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः।
>
> (श्वेत० ३-२०)

इस उभयात्मक भावना में ब्रह्म मूर्त-अमूर्त, व्यक्त-अव्यक्त, चल-अचल, छोटा-बड़ा सब कुछ है अर्थात् सर्वरूप है।

---

१ [अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।]

२ [यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्।]

यहाँ पर यह सूचित कर देना आवश्यक है कि भारतीय भक्तिमार्ग ब्रह्म का यह उभयात्मक स्वरूप ग्रहण करके चला। उसके अनुसार न तो यह कहा जा सकता है कि ब्रह्म केवल सगुण और व्यक्त ही है, न यह कहा जा सकता है कि केवल निर्गुण और अव्यक्त ही है। दोनो रूप नित्य और सत् हैं। व्यक्त और सगुण की नित्यता प्रवाहरूप है; अव्यक्त और निर्गुण की स्थिर। व्यक्त और अव्यक्त, सगुण और निर्गुण का भेद पारमार्थिक या वास्तविक नहीं। जहाँ तक ब्रह्म हमारे मन और इन्द्रियो के अनुभव में आ सकता है वहाँ तक हम उसे सगुण और व्यक्त कहते हैं। पर वही तक उसकी इयत्ता नहीं। उसके आगे भी उसकी अनन्त सत्ता है जिसके लिए हम कोई शब्द न पा कर निर्गुण, अव्यक्त आदि निषेध-वाचक शब्दों का आश्रय लेते हैं। तात्पर्य्य यह कि हृदय को सगुण और व्यक्त रूप में अनुरक्त रखते हुए सम्यग्दर्शन के लिए उसकी निर्गुण और अव्यक्त सत्ता को भी लेना पड़ेगा। भक्ति का यही सिद्धान्त-पक्ष है। इसके अनुसार जिस सगुण और और व्यक्त रूप की भक्त उपासना करता है वह असत्, भ्रम या मिथ्या नही है।

बृहदारण्यक में (२–१) गार्ग्य बालाकी ने अजातशत्रु को पहले पहल आदित्य, चन्द्र, विद्युत्, आकाश, वायु, अग्नि, जल या दिशाओ में रहनेवाले पुरुषो की ब्रह्मरूप में उपासना बतलाई है। परन्तु आगे अजातशत्रु ने उससे कहा है कि ब्रह्म इनके

भी परे है। उसी उपनिषद् में एक स्थल पर पृथ्वी, जल और अग्नि इन तीनो को ब्रह्म का मूर्त्त रूप और वायु तथा आकाश को अमूर्त्त रूप कहा है। फिर अन्त में यह कह कर कि इन अमूर्त्तों के भी रंग बदला करते हैं ब्रह्म मूर्त्त और अमूर्त्त दोनो के परे बतलाया गया है। याज्ञवल्क्य ने तो 'नेति नेति'[१] (यह सब वह नही है) कह कर तटस्थ लक्षण द्वारा छुट्टी ली है। यह 'नेति नेति' अव्यक्त और निर्गुण का सूत्र सा हो गया। निर्गुण-वादियो ने इसका यही अर्थ लिया कि जो कुछ व्यक्त और गोचर है वह जब ब्रह्म नहीं है तब असत् है, मिथ्या है। उभयवादियों ने यह तात्पर्य्य ग्रहण किया कि यह सब (गोचर और व्यक्त) पूरा ब्रह्म नही है; ब्रह्म अवश्य है। उनके अनुसार जिस प्रकार केवल सगुण समझना अधूरा ज्ञान है उसी प्रकार केवल निर्गुण समझना भी।

ऊपर जिस परत्व-भावना का उल्लेख है उसे लेकर कट्टर ज्ञान-मार्गियो में दूरारूढ़ता की प्रवृत्ति क्रमशः बढ़ती गई। कही कही ब्रह्म चित् अचित्, सत् असत् सब के परे कह दिया गया। पर भक्तिमार्गी बराबर 'नेति नेति' में केवल इयत्ता का निषेध मानते रहे। सत् और चित् से भी परे का अभिप्राय वे यही लेते आए कि जिस रूप में हम सत् या चित् समझते हैं वही तक वह नही है। इस तात्त्विक दृष्टि के कारण विशुद्ध भारतीय भक्तिमार्ग में

---

१ [नेति नेति होवाच याज्ञवल्क्यः।]

'उससे भी परे, उससे भी परे' कह कर अपनी पहुँच की दूरी जताने का शौक नहीं पैदा हुआ। पर देशी विदेशी कई प्रकार के भिन्न भिन्न अवयवों को अधूरे और कच्चे ढंग से ले कर निर्गुण-पंथी भक्तों की जो परंपरा कबीरदास से चली उसके भीतर कट्टर ज्ञान-वादियों की उक्त प्रवृत्ति की नक़ल पूरी पूरी दिखाई पड़ती है। कबीरदास चित् अचित् से परे सत्यलोक तक पहुँचे तो पीछे के कुछ सम्प्रदायों ने उनसे भी बाज़ी मारने के लिए उस सत्यलोक से भी चार डंडे ऊपर पहुँचने का दावा किया। पर इस होड़ा-होड़ी का न तो शुद्ध तत्त्वज्ञान या चिन्तन से कोई सम्बन्ध है, न भक्ति की साधना में कोई उपयोग।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है सम्यग्दर्शन या बोध के लिए भी और उपासना के लिए भी देवताओं के एकत्व की भावना उपनिषत्काल में पूर्णता को पहुँचाई गई। पहले इन्द्र, वरुण, रुद्र, विष्णु आदि देवताओं की तथा अग्नि, वायु, आकाश आदि व्यक्त प्रतीकों की उपासना अलग अलग थी। उपनिषदों[1] ने "रुद्र, विष्णु, अच्युत, नारायण ये सब ब्रह्म ही हैं" (मैत्र्युप-

---

१ [त्व ब्रह्मा त्वं च वै विष्णुस्त्वं रुद्रस्त्वं प्रजापति. ।
त्वमग्निर्वरुणो वायुस्त्वमिन्द्रस्त्वं निशाकरः ॥
त्वं मनुस्त्वं यमश्च त्वं पृथिवी त्वमथाच्युतः ।
स्वार्थे स्वाभाविकेऽर्थे च बहुधा तिष्ठते दिवि ॥
—मैत्रायण्युपनिषत् ४।१२-१३]

को भस्म कर सकता हूँ"। यक्ष ने एक तिनका दिखा कर कहा "इसे तो भस्म करो"। अग्नि ने बहुत चेष्टा की पर वह तिनका न जला। फिर वायुदेवता उस यक्ष के पास गए और उसके पूछने पर कहा कि "मैं वायु हूँ। चाहूँ तो क्षण भर में सब कुछ उड़ा सकता हूँ"। यक्ष ने वही तिनका दिखा कर कहा "इसे तो उड़ाओ"। वायु ने बहुत वेग दिखाया पर वह तिनका जगह से न हटा। अन्त में इन्द्र आप वहाँ गए पर उनके जाते ही यक्ष अन्तर्द्धान हो गया। इतने ही में वहाँ "उमा हैमवती" प्रकट हुई। उन्होंने बताया कि वह यक्ष ब्रह्म था उसी ने असल में दैत्यों को जीता था।

उपनिषत्काल में जिस प्रकार उपास्य की भावना व्यापक की गई उसी प्रकार उपासना की पद्धति में भी परिष्कार हुआ। आदिम वैदिक काल में भिन्न भिन्न देवताओं की केवल 'पूजा' थी जो 'द्रव्ययज्ञ' द्वारा ही सम्पन्न हो जाती थी। ऊपर कह आए हैं कि देवताओं के प्रति सब से पहले भय, लोभ या कृतज्ञता के भाव ही थे। इन तीनो भावों की प्रेरणा यहीं तक जा सकती थी कि अनुग्रह के लिए स्तुति की जाय और उपभोग की वस्तुएँ भेंट की जायँ। इस 'पूजा' में उपास्य के स्वरूप का परिचय या दर्शन नही था। आगे चल कर उपनिषदों के ज्ञानकांड द्वारा ब्रह्म के स्वरूप का बोध या दर्शन हुआ। इस बात की ओर भागवत में उस स्थल पर बड़ा मधुर संकेत है जहाँ श्रीकृष्ण के विरह में व्याकुल गोपियाँ उनके दर्शन से आह्लादित हो जाती हैं—

इस 'ज्ञानयज्ञ' के सम्बन्ध में यह समझ रखना चाहिए कि इसमें ज्ञान और कर्म दोनो का समन्वय है। कृष्ण भगवान् ने इस यज्ञ का स्वरूप खोलते हुए कहा है कि "हवन करने का व्यापार और हवन करने का द्रव्य दोनो ब्रह्म हैं। ब्रह्माग्नि में ब्रह्म ने हवन किया है। जिसकी बुद्धि में कर्म ब्रह्ममय हैं वह ब्रह्म को प्राप्त होता है"[१]।

उपनिषत्काल में कर्म के साथ मन का जो योग किया गया उसमें मन की बोधवृत्ति और रागात्मिका वृत्ति दोनो सम्मिलित थीं अर्थात् ज्ञान और उपासना, बुद्धितत्त्व और हृदयतत्त्व दोनो का मेल था। जहाँ से कर्म में हृदयतत्त्व को कुछ अधिक स्थान देने की प्रवृत्ति हुई वहीं से भक्तिमार्ग का आरम्भ मानना चाहिए। यही वह समय है जब इष्ट (अपने सुख के लिए) यज्ञों के साथ साथ पूर्त्त (दूसरों के उपकार के लिए) यज्ञों का महत्त्व स्वीकार किया गया और लोक के मंगल के लिए तालाव कुएँ खुदाना, पेड़ लगवाना, अतिथिशाला बनवाना धर्म के श्रेष्ठ कर्म माने गए। भक्तिमार्ग के प्रवर्त्तन की परंपरा का उल्लेख महाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत नारायणीयोपाख्यान में मिलता है जिसमें वासुदेव की उपासना और भागवत धर्म लोक में कैसे चला यह बताया गया है। उक्त आख्यान के

---

१ [ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥
—गीता ४-२४]

तद्दर्शनाह्लादविधूतहृद्रुजो, मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः ।

उपनिषदों ने 'पूजा' से आगे बढ़ कर 'उपासना' का प्रवर्त्तन किया जिसमें अखिल, व्यापक परोक्ष शक्ति के स्वरूप का अधिक परिचय करा कर मनुष्य का हृदय उसके कुछ और पास पहुँचाया गया। इसी अधिक परिचय के अनुरूप उपासना में व्यक्तित्व का और हृदय का योग भी कुछ अधिक हुआ। पूज्य के लिए जहाँ पहले केवल अर्जित द्रव्यों का, जो व्यक्ति की सत्ता से बाहरी वस्तुएँ थी, अर्पण ही अपेक्षित होता था वहाँ इस उपासना में व्यक्ति की भीतरी वृत्ति को, उसके जीवन के कुछ अंश को, लगाना आवश्यक हुआ। छान्दोग्य उपनिषद् (३।१६-१७) में साफ कहा गया कि मनुष्य का जीवन भी एक प्रकार का यज्ञ ही है। यह यज्ञ 'ज्ञानयज्ञ' कहा गया।

'ज्ञानयज्ञ' का अभिप्राय बुद्धि और हृदय, बोधवृत्ति और रागात्मिका वृत्ति, दोनो को ब्रह्म या परमात्मा में लगाना है। यह 'ज्ञानयज्ञ' 'द्रव्ययज्ञ' से श्रेष्ठ माना गया। छान्दोग्य के अनुसार यह यज्ञविद्या घोर आंगिरस ऋषि ने देवकीपुत्र कृष्ण को बताई थी। ये कृष्ण वृष्णिवंशी यादव कृष्ण न सही, कोई ऋषि ही सही, जैसा कि बहुत से विद्वान् कहते हैं, पर इतना तो ध्रुव है कि इस यज्ञविद्या का प्रकाश उपनिषदों में ही हुआ। आगे चल कर श्रीकृष्ण भगवान् ने भी ज्ञानयज्ञ को द्रव्ययज्ञ से श्रेष्ठ कहा—

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः, परंतप ! (गीता ४-३३)

इस 'ज्ञानयज्ञ' के सम्बन्ध में यह समझ रखना चाहिए कि इसमें ज्ञान और कर्म दोनो का समन्वय है। कृष्ण भगवान् ने इस यज्ञ का स्वरूप खोलते हुए कहा है कि "हवन करने का व्यापार और हवन करने का द्रव्य दोनो ब्रह्म हैं। ब्रह्माग्नि में ब्रह्म ने हवन किया है। जिसकी बुद्धि में कर्म ब्रह्ममय हैं वह ब्रह्म को प्राप्त होता है"[1]।

उपनिषत्काल में कर्म के साथ मन का जो योग किया गया उसमें मन की बोधवृत्ति और रागात्मिका वृत्ति दोनो सम्मिलित थीं अर्थात् ज्ञान और उपासना, बुद्धितत्त्व और हृदयतत्त्व दोनो का मेल था। जहाँ से कर्म में हृदयतत्त्व को कुछ अधिक स्थान देने की प्रवृत्ति हुई वहीं से भक्तिमार्ग का आरम्भ मानना चाहिए। यही वह समय है जब इष्ट (अपने सुख के लिए) यज्ञों के साथ साथ पूर्त्त (दूसरों के उपकार के लिए) यज्ञों का महत्त्व स्वीकार किया गया और लोक के मंगल के लिए तालाब कुएँ खुदाना, पेड़ लगवाना, अतिथिशाला बनवाना धर्म के श्रेष्ठ कर्म माने गए। भक्तिमार्ग के प्रवर्त्तन की परंपरा का उल्लेख महाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत नारायणीयोपाख्यान में मिलता है जिसमें वासुदेव की उपासना और भागवत धर्म लोक में कैसे चला यह बताया गया है। उक्त आख्यान के

---

१ [ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥

—गीता ४-२४]

लोक के भरण या पालन के लिए यह धर्म अपने पुत्र इक्ष्वाकु को बताया। गीता के चौथे अध्याय में भी यही परंपरा बता कर इतना और कहा गया है कि बहुत काल बीतने पर जब यह योग इस लोक से लुप्त हो गया तब भगवान् ने अपने भक्त अर्जुन को फिर से यह धर्म बताया[1]। इस धर्म का मूल स्वरूप पूरा पूरा क्या था इसका विचार करने के लिए नारायणीयोपाख्यान की यह बात कि 'मनु ने लोक के भरण या पालन के लिए इस धर्म को अपने पुत्र इक्ष्वाकु को बताया' ध्यान देने योग्य है। उक्त आख्यान में एक स्थान पर और आया है कि "प्रवृत्तिलक्षणश्चैव धर्मो नारायणात्मकः"। इन सब बातों के साथ जब हम गीता में उपदिष्ट निष्काम कर्म तथा कर्म, ज्ञान और उपासना के समन्वय को लेते हैं तब इन तथ्यों तक पहुँचते हैं—

(१) सर्वसाधारण में प्रचलित वैदिक देवपूजा कृतज्ञता के भाव तक ही पहुँची थी जिसमें ध्यान मुख्यतः फल पर ही रहता था। यद्यपि वैदिक यज्ञकर्मों का लक्ष्य लोकहित और लोकरंजन

---

१ [इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप॥
स एवायं मया तेऽद्य योग. प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥

—गीता ४।१-३]

ही था पर पीछे लोग उनमें स्वार्थबुद्धि से ही, अपने व्यक्तिगत कल्याण के लिए ही, प्रवृत्त होने लगे थे। प्रचलित यज्ञों के साथ व्यक्तिगत फलेच्छा के सम्बद्ध हो जाने के कारण ही नृयज्ञ, भूतयज्ञ और पूर्त्तयज्ञ की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई थी। कृष्ण भगवान् ने कर्मक्षेत्र से इस प्रकार की फलासक्ति को बाहर निकालने पर बहुत अधिक जोर दिया है। निष्काम कर्म की श्रेष्ठता से उनका अभिप्राय यही है कि उच्च श्रेणी के कर्म वे ही हैं जो खास अपने लिए किसी फल की प्राप्ति के उद्देश्य से नही बल्कि लोक की रक्षा, पालन और रंजन की दृष्टि से किए जायँ। ऐसे ही कर्म भगवान् को अर्पित माने गए है। अतः इसमें किसी प्रकार का सन्देह नही कि भागवत धर्म का मार्ग लोककल्याण-पक्ष को ले कर चला हुआ प्रवृत्तिमार्ग था। गीता का उपदेश अर्जुन को ऐसे कर्म में प्रवृत्त करने के लिए ही दिया गया था जिसके द्वारा लोक में धर्मशक्ति की प्रतिष्ठा हो।

(२) लोककल्याण-पक्ष को ले कर चलने के कारण इस मार्ग में उपासना के लिए ब्रह्म का वह सगुण रूप लिया गया जिसकी अभिव्यक्ति रक्षा, पालन और रंजन करनेवाले के रूप में होती है। अतः उपास्य नारायण या वासुदेव हुए। उपास्य का अनुकरण होना चाहिए। अतः जिस प्रकार अनन्त विश्व की रक्षा और पालन-रंजन में भगवान् लगे रहते हैं उसी प्रकार अपने छोटे से संसार के बीच उनके उपासक को भी लगा रहना चाहिए। श्रद्धा या आस्था के प्रभाव से उपास्य भगवान् के तदाकार

साकार रूप में उपासना करनेवालों को भला बुरा कहने या समझने का कोई हक नहीं दिया गया क्योंकि मूर्त्त और अमूर्त्त दोनो ब्रह्म के रूप बतला दिए गए।

(६) महाभारत के समय तक नारायण या नराकृति भगवान् की गूढ़ भक्ति गुह्य या रहस्य के रूप में[1] एक विशेष समुदाय के बीच में परंपरा द्वारा चली आ रही थी। भगवान् का जो स्वरूप नर नारायण के रूप में पूर्वकल्प में व्यक्त हुआ था वही अर्जुन और वासुदेव कृष्ण के रूप में इस कल्प में प्रकट हुआ, पांचरात्र या नारायणीय धर्म के इस पक्ष का प्रवर्त्तन सात्वतों (यादव क्षत्रियों का वर्ग) के बीच में हुआ इसी से इसे सात्वत-धर्म भी कहते है। कृष्णोपासक वैष्णव सम्प्रदाय का विकास इसी से समझना चाहिए। प्राचीन पांचरात्र या नारायणीय धर्म (जिसके मूल का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में है) के और पक्ष भी थे जो 'नारायण' रूप में ही उपासना करते रहे अथवा किसी और अवतार (जैसे, नृसिंह, वामन, दाशरथि राम) की एकान्त उपासना ले कर चले।

वासुदेव-भक्ति के तात्त्विक निरूपण का सब से प्राचीन और प्रामाणिक ग्रंथ भगवद्गीता है, जो महाभारत का एक अंग है। ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि महाभारतकाल के आसपास भगवान् का जो उपास्य स्वरूप सामने रहा वह बहुत व्यापक था।

---

१ [सात्वत संहिता में इस भक्तितत्त्व को 'रहस्याम्नाय' और उपासना को 'क्रियामार्ग' कहा है।

वह लोकरक्षा और लोकमंगल का प्रत्यक्ष साधन करनेवाली धर्मशक्ति का स्वरूप था जिसमें शक्ति, शील, सौन्दर्य्य, ऐश्वर्य्य सब का समन्वय था। उसका आकर्षण लोकधर्म में आनन्दपूर्वक प्रवृत्त करानेवाला आकर्षण था। गीता में अवतार का उद्देश्य लोक में धर्म की स्थापना स्वयं भगवान् द्वारा कहा गया है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

धीरे धीरे भगवान् कृष्ण के भक्तिमार्ग से लोकधर्म-पक्ष या कर्मपक्ष हटता गया और उपासना में उनका लोकरक्षा और लोक-मंगल-वाला यह व्यापक स्वरूप तिरोहित होता गया और केवल ऐसे स्वरूप की प्रतिष्ठा की प्रवृत्ति बढ़ती गई जो अत्यन्त घनिष्ठ प्रेम का आलम्बन हो सके। श्रीमद्भागवत इसी प्रवृत्ति का अत्यन्त मधुर फल है। उक्त ग्रंथ में यह सूचित कर के कि "सात्वत धर्म या नारायण ऋषि का धर्म नैष्कर्म्य-लक्षण है (१–३–८[1] तथा ११–४–६[2])" यह साफ बताया गया है कि

---

१ [तृतीयमृषिसर्गं च देवर्षित्वमुपेत्य सः।
तन्त्रं सात्वतमाचष्ट नैष्कर्म्यं कर्मणा यतः॥]

२ [धर्मस्य दक्षदुहितर्यजनिष्ट मूर्त्यां नारायणो नरऋषिप्रवरः प्रशान्तः।
नैष्कर्म्यलक्षणमुवाच चचार कर्म योऽद्यापि चास्त ऋषिवर्यनिषेविताङ्घ्रिः॥]

"उक्त नैष्कर्म्य-धर्म में भक्ति को पूरी प्रधानता नहीं मिली थी इससे भागवत पुराण कहा गया (१–५–१२)"[1] । आगे चल कर यही भागवत पुराण तो कृष्णोपासक भक्तों के प्रेमलक्षणाभक्ति-योग का प्रधान ग्रन्थ हुआ और उसमें प्रकाशित श्रीकृष्ण का रूप प्रेम या भक्ति का आलम्बन ।

भागवत में भगवान् की माधुर्य्य-विभूति को प्रधानता दी गई; ऐश्वर्य्य, शक्ति, शील इत्यादि लोकरक्षा द्वारा व्यक्त होनेवाली विभूतियों को गौण स्थान प्राप्त हुआ। महाभारत में प्रतिष्ठित श्रीकृष्ण के शील और सौन्दर्य्य पर मुग्ध भक्त उनके ज्वलन्त तेज और ऐश्वर्य्य से स्तम्भित और महत्त्व से प्रभावित हो कर थोड़ा दूर हटा हुआ भक्ति की दिव्य अनुभूति में लीन होता था। भागवत ने कृष्ण की वह मधुर मूर्त्ति सामने रखी जो प्यार करने योग्य हुई—उस ढंग का प्यार जिस ढंग के प्यार की प्रेरणा से माता-पिता अपने बच्चे को दुलारते पुचकारते हैं, उस ढंग का प्यार जिस ढंग के प्यार की उमंग में प्रेमिका अपने प्रियतम का ललक कर आलिंगन करती है। भागवत ने भगवान् को प्यार करने के लिए भक्तों के बीच खड़ा कर दिया।

गीता और भागवत पुराण ये ही वैष्णव भक्तिमार्ग के दो प्रधान ग्रन्थ हैं जिनमें गीता प्राचीन है और भक्ति का कर्म-ज्ञान-

---

१ [नैष्कर्म्यमप्यच्युत भाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् ।
कुत. पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम् ॥]

समन्वित व्यापक रूप प्रत्यक्ष करती है। उसके पीछे भागवत में कर्म और ज्ञान के क्षेत्र से अलग भक्ति का एक स्वतंत्र क्षेत्र तैयार किया गया। आगे चल कर भक्ति के सिद्धान्त-पक्ष के प्रतिपादन के लिए कुछ छोटे छोटे ग्रन्थ भी बने, जैसे, शांडिल्यसूत्र, नारदसूत्र, नारदपांचरात्र। इनमें से पिछले दो ग्रन्थ तो भागवत के बाद के हैं। शांडिल्यसूत्र उसके पहले का हो सकता है। उसमें भक्ति का लक्षण यह कहा है—"सा परानुरक्तिरीश्वरे" अर्थात् ईश्वर मे परानुरक्ति ही भक्ति है। निर्हेतुक या निष्काम अनुरक्ति ही परानुरक्ति कही जा सकती है। भक्ति का यह स्वरूप गीता से ले कर भागवत तक बराबर चला आया है। भागवत में स्पष्ट कहा गया है कि "अहेतुक्य-व्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे"। यही निष्कामता तो वैदिक पूजा से भक्ति का मानसिक उत्कर्ष प्रकट करती है। सच्चे प्रेम का कोई बाहरी हेतु नहीं होता। न जाने क्यों कोई अच्छा लगा, बस प्रेम की नीवॅ पड़ गई। यदि प्रेम का कोई हेतु कहा जा सकता है तो बस यही अच्छा लगना। पर नारदपांचरात्र में भक्ति के इस स्वरूप का पूरा ध्यान न रख कर मंत्र तंत्र का भी कुछ समावेश कर दिया गया है। भगवान् का यह मंत्र जपने से बुखार छूट जायगा, इस विधि से पूजा करने से व्यापार में लाभ होगा, इस प्रकार की बाते भक्तिक्षेत्र के बाहर की है।

पहले कह आए हैं कि गीता में भक्ति का कर्म-ज्ञान-समन्वित व्यापक रूप था पर भागवत में भक्ति को सब के ऊपर प्रधानता

दे कर उसका अलग क्षेत्र तैयार किया गया। यह प्रधानता किस प्रकार धीरे धीरे प्रस्फुटित होती हुई भागवत के समय में पूर्णतया विकसित हुई, इसका कुछ आभास शांडिल्यसूत्र में मिलता है। गीता के कई श्लोकों से यह ध्वनि निकलती है कि मोक्ष ज्ञान से ही होता है; भक्ति द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती है अतः भक्ति ज्ञान का साधन है। उदाहरण के लिए ये दो श्लोक लीजिए—

श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्ति अचिरेणाधिगच्छति॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

दूसरे श्लोक को ले कर शांडिल्यसूत्र में यह कहा गया है कि भक्ति ही के द्वारा भगवान् तत्त्वतः जैसे है वैसे जाने जा सकते हैं। अतः भक्ति साधन नही साध्य है। पर यह बात यहाँ तक नही पहुँचाई गई कि जानने का काम प्रेम या भक्ति से लिया जा सकता है।

ज्ञान और भक्ति, बुद्धिपक्ष और भावपक्ष, के सम्बन्ध में यह विवाद पाश्चात्य देशों में भी रहस्यवादी भक्त साधकों के कारण उठा और अब भी वहाँ के विचार-क्षेत्र में है। हमारे यहाँ के निवृत्तिमार्गी ज्ञानियों के समान योरप में ईसाई धर्मोपदेशक भी मनोविकारों के सर्वथा दमन का उपदेश दिया करते थे। पर इंगलैंड के रहस्यवादी कवि ब्लेक (William Blake) ने भाव या मनोवेग (Passion) को हृदय की परम पवित्र

सम्पत्ति कहा और भावना या कल्पना को ईश्वर का साक्षात्कार या झाँकी। रहस्यवादी भक्तों और कवियों के अनुसार भक्ति ज्ञानस्वरूपा है। शुद्ध भाव द्वारा प्रेरित भावना की उमंग में भक्त या साधक को ईश्वर के स्वरूप का बोध होता है। अतः भक्त भावुक और कवि एक प्रकार के रहस्यद्रष्टा (Seer) या पैग़ंबर हैं। तात्पर्य यह कि योरप के रहस्यवादियों ने ज्ञान का—विशेषतः आध्यात्मिक ज्ञान का—बुद्धि-व्यवसाय से एक स्वतंत्र साधन 'स्वानुभूति' (Intution) का प्रचार किया जिसका खंडन बहुत से वैज्ञानिक और दार्शनिक करते रहे।

पर ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी की कट्टर आधिभौतिक दृष्टि के विरुद्ध पीछे जो आध्यात्मिक प्रतिवर्त्तन (Reaction) आरम्भ हुआ उसके प्रभाव से बहुत से लेखक बुद्धि-व्यवसायात्मक ज्ञान को अपूर्ण बता कर 'स्वानुभूति' का समर्थन भी करते पाए गए। एडवर्ड कार्पेंटर ने अपनी प्रसिद्ध अंगरेज़ी पुस्तक Civilization, its Causes and Cure मे वर्त्तमान समय की उस वैज्ञानिक प्रवृत्ति का विरोध किया है जिसमें बुद्धि-क्रिया ही सब कुछ मानी गई है, मनुष्य के हृदयपक्ष तथा स्वानुभूति का एकदम तिरस्कार कर दिया है। उसने "शब्दबोध की प्रणाली" को "अज्ञान की प्रणाली" कहा है। दर्शन तक के क्षेत्र में यह 'स्वानुभूतिवाद' किसी न किसी रूप में इधर उधर पाया जाता है। आजकल के एक प्रसिद्ध योरपीय दार्शनिक बर्गसन (Bergson) ने भी कोरी-बुद्धिक्रिया

को एकदेशीय, भ्रान्तिजनक और असमर्थ बता कर स्वानुभूति (Intution) का पक्ष ग्रहण किया है। हाल के प्रसिद्ध उर्दू शायर अकबर ने भी 'बुद्धिरोग' से छुटकारा पाने पर इस तरह ख़ुशी जाहिर की है—"मैं मरीज़े होश था, मस्ती ने अच्छा कर दिया"।

हमारे यहाँ भक्तिमार्गियों की ओर से ज्ञानक्षेत्र की ऐसी अवहेलना नहीं हुई ; भक्ति ने ज्ञान का काम अपने ऊपर नहीं लिया। गीता का उपदेश तो यही रहा कि जानते चलो, भक्ति करते चलो और कर्म करते चलो। ज्ञान-प्रसार के भीतर ही भक्ति होती है। जहाँ तक हम ईश्वर को जान पाते हैं वहीं तक उसकी भक्ति कर सकते हैं। उपनिषदों ने ब्रह्म के व्यापक स्वरूप का ज्ञान करा कर तब उपासना का मार्ग खोला है। भिन्न भिन्न देवताओं को एक ब्रह्म में अन्तर्भाव निश्चयात्मिका बुद्धि ने किया था, हृदय ने नहीं। जानना और बात है और जान कर हृदय को प्रवृत्त करना और बात। पर जानने का फल हृदय को प्रवृत्त करने में ही है। ज्ञान की सार्थकता भक्ति में ही है। केवल जानने से ही मनुष्य के जीवन में, उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व में, उन्नति नही होती। जाने हुए स्वरूप की ओर जब हृदय आकर्षित होता है और उस स्वरूप तक पहुँचने के लिए जब व्यक्ति का स्वरूप उसके मेल में होने लगता है तभी जीवन की साधना का आरम्भ होता है। जाना हुआ स्वरूप जैसा होगा उस स्वरूप का भक्त

वैसे ही स्वरूप को प्राप्त होगा। इसी लिए गीता में ज्ञानी भक्त श्रेष्ठ कहा गया है। वहाँ भक्ति ज्ञान का पर्य्याय नहीं है।

भागवत धर्म या वैष्णव धर्म की जो परंपरा भारतवर्ष मे चली उसमें ज्ञान का स्थान अलग रहा है और प्रेम या भक्ति का अलग। प्रत्येक सम्प्रदाय के ज्ञानपक्ष या सिद्धान्तपक्ष का प्रतिपादन आचार्य्य लोग करते थे और प्रेम या भक्ति भाव का जनता मे संचार 'आड़वार' लोग भजन-कीर्त्तन द्वारा करते थे। आचार्य्य ज्ञानी और भक्त दोनो होते थे। वे तर्क और वाद का अवलंबन कर के विद्वानों से शास्त्रार्थ करते थे। श्री रामानुज, वल्लभाचार्य्य, रामानन्द इत्यादि सब के दिग्विजय के वृत्तान्त प्रसिद्ध चले आते हैं। केवल हृदयपक्ष को ले कर चलनेवाले उनके अनुयायी भक्त ज्ञानी होने का दावा कभी नहीं करते थे। तुलसी, सूर आदि पहुँचे हुए भक्तों के सम्बन्ध में भी यह कहीं नही कहा जाता कि जहाँ तक शंकराचार्य्य का ज्ञान भी नहीं पहुँचा था वहाँ तक उनका ज्ञान पहुँचा था। प्रेम और भक्ति की गूढ़ता के प्रभाव से वे भगवान् के उपास्य स्वरूप का साक्षात्कार करनेवाले कहे जाते हैं पर ब्रह्म या ईश्वर के सम्बन्ध में कोई ऐसी नई बात जाननेवाले नहीं जो किसी को मालूम नहीं। भक्तिमार्ग में जहाँ रहस्य का अवयव अधिक रहा वही भक्तों में एक प्रकार की लोकोत्तर चेतना मानने की चाल चली और वे परोक्ष-ज्ञान-सम्पन्न कहे जाने लगे। अतः यह मानना भी आवश्यक हुआ कि दर्शन-क्षेत्र की बड़ी से बड़ी बात की तह तक

सीधे, बुद्धि-क्रिया का मार्ग छोड़ कर, पहुँचा देनेवाली कोई अलौकिक प्रज्ञा अवश्य होती है।

पर हमारे यहाँ के भक्तिमार्ग में ज्ञान या स्वरूप-बोध के लिए तत्त्वचिन्तन की स्वाभाविक पद्धति ही स्वीकृत है। भागवत में स्पष्ट कहा गया है कि भगवान् लक्षणों के सहारे अनुमान द्वारा ही लक्षित होते हैं—

भगवान्सर्वभूतेषु लक्षितः स्वात्मना हरिः।
दृश्यैर्बुद्ध्यादिभिर्द्रष्टा लक्षणैरनुमापकैः।

इसी प्रकार उक्त पुराण में भगवान् ने ब्रह्मा को अपना तात्त्विक स्वरूप बताते हुए कहा है—

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनात्मनः।
अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां यत्स्यात् सर्वत्र सर्वदा।

अब यह देखना चाहिए कि गीता में श्रीकृष्ण भगवान् ने जो यह कहा है कि भक्ति द्वारा मैं तत्त्वतः जाना जा सकता हूँ, उसका अभिप्राय क्या है। उसका अभिप्राय यही है कि भक्त भक्ति के ही प्रभाव से उस ज्ञानमार्ग में तत्पर होता है जिससे भगवान् का स्वरूप अधिकाधिक प्रत्यक्ष होता जाता है। कोरे ज्ञानी में और भक्त ज्ञानी में यह अन्तर है कि कोरा ज्ञानी भगवान् के स्वरूप का जो ज्ञान प्राप्त करता है उससे तटस्थ रहता है, पर भक्त ज्ञानी उस स्वरूप में हृदय से लीन हो जाता है, उस स्वरूप को निष्पन्न करनेवाली एक एक बात पर मुग्ध होता चलता है जिससे उसका ज्ञान पुष्ट होता हुआ 'आस्था' की दशा को पहुँचता है। इसी 'आस्था' की दशा को पहुँचे हुए ज्ञान द्वारा—हृदय का योग पा कर

समर्थ और बलवान ज्ञान द्वारा—व्यक्ति की संपूर्ण सत्ता में शुभ परिवर्त्तन होता है; तटस्थ, निष्क्रिय और असमर्थ ज्ञान द्वारा नहीं। भक्ति का आरम्भ ज्ञानपूर्वक ही होता है। जब हम उपास्य के स्वरूप को, उसके गुणों को थोड़ा बहुत जान लेते हैं तब उसके प्रति श्रद्धा और प्रेम का स्फुरण होता है। प्रेमी प्रिय के स्वरूप को जितना जाने रहता है उतने में मग्न हो कर भी उसको और जानने के लिए बीच बीच में उत्कंठित होता रहता है। पूर्ण दर्शन की यह उत्कंठा श्रेष्ठ भक्त का लक्षण है। पहले पहल तो मनुष्य कुछ जान कर तब प्रेम करता है, फिर उस प्रेम की प्रेरणा से कुछ और जानने की ओर अग्रसर होता है। इस प्रकार आगे चल कर ज्ञान और भक्ति का पूर्वापर क्रम असंलक्ष्य हो जाता है। यह भी कहा जा सकता है कि ज्ञान द्वारा भक्ति होती है और यह भी कहा जा सकता है कि भक्ति द्वारा ज्ञान होता है। पर इसका मतलब यह नहीं कि कभी ज्ञान या चैतन्य का अभाव हो जाता है और उसका काम प्रेम का उन्माद करने लगता है।

संराधन-काल में भक्त को ब्रह्म के स्वरूप का दर्शन होता है, यह बात वेदान्त-सूत्र में कही गई है—अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्। इस दर्शन को शंकराचार्य्य ने 'ज्ञानप्रसाद' कहा है। भक्ति को केवल रहस्यवाद की दृष्टि से देखनेवाले पाश्चात्य लेखक इस 'ज्ञानप्रसाद' को 'रहस्यानुभव' (Mystical Experience) कहेंगे। 'रहस्यानुभव' के सम्बन्ध में साधारणतः यही समझा जाता है कि वह किसी अज्ञात तथ्य का अनायास

उपलब्ध ज्ञान होता है। वह योग की एक अलौकिक सिद्धि या दिव्य दृष्टि के रूप में माना जाता है जिससे बिना किसी प्रकार के ऊहापोह के त्रिकाल की बातें प्रत्यक्ष हो जाती हैं। पर भक्तों का 'ज्ञानप्रसाद' इस प्रकार के 'योगज प्रत्यक्ष' से भिन्न वस्तु है। भक्तिमार्ग शुद्ध भावमार्ग या प्रेममार्ग है। वह योगमार्ग से अलग है, यह बात सदा ध्यान में रखनी चाहिए। भक्त अपने ध्यान या भाव की मग्नता में भगवान् के सम्बन्ध में किसी नई बात का, उसके किसी ऐसे स्वरूप का जिसका निरूपण कहीं न हुआ हो, उद्घाटन नहीं करता।

ज्ञानी ब्रह्म के जिस स्वरूप का अपने चिन्तन के बल से उद्घाटन करके तटस्थ हो जाता है उसी स्वरूप को भावुक भक्त लेता है और ध्यान या भाव-मग्नता के समय उसमें अपनी सारी सत्ता को—हृदय, प्राण, बुद्धि, कल्पना, संकल्प इत्यादि सारी वृत्तियों को—समाहित और घनीभूत कर के बड़े वेग के साथ लीन कर देता है। इस प्रकार अपनी व्यक्तिगत सत्ता की भावना का पूर्ण विसर्जन हो जाने पर केवल उसी ध्येय स्वरूप की अत्यन्त तीव्र अनुभूति मात्र शेष रह जाती है। यह एकान्त अनुभूति प्रत्यक्ष दर्शन के ही तुल्य होती है। संराधन-काल के ज्ञान की यही विशेषता है। यही उसका मूल्य है। इस ज्ञान द्वारा किसी नए तथ्य का उद्घाटन नहीं होता; किसी ऐसी बात की जानकारी नहीं होती जिसे कोई न जानता हो। भक्तों के 'ज्ञानप्रसाद' या 'रहस्यानुभूति' का यही स्वरूप रहस्यवाद के

विवेचन करनेवाले प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वानों ने भी स्वीकार किया है* ।

कोरे ज्ञानी को भगवान् के स्वरूप की—व्यक्त और सगुण स्वरूप की—कुछ जानकारी भर रहती है। पर भक्त को उसी कुछ जाने हुए या विज्ञात स्वरूप का साक्षात्कार और रसात्मक अनुभूति होती है। साक्षात्कार भावना या कल्पना (Imagination) द्वारा होता है और रसात्मक अनुभूति भाव (Emotion) द्वारा। प्राचीन ऋषि 'साक्षात्कृतधर्म्मा' कहलाते थे। बौद्धों ने भी केवल 'विज्ञात' और 'साक्षात्कृत' में भेद किया है। गोस्वामी तुलसीदास ने इसी 'विज्ञान' को, केवल जान लेने भर को, 'वाक्यज्ञान' कह कर यह भी बतलाया है कि

वाक्यज्ञान अत्यन्त निपुन भव पार न पावै कोई।

साक्षात्कार होने पर ही, कल्पना में पूर्ण विवन होने पर ही, रसानुभूति हो सकती है। भक्त की अनुभूति वही है जिसे काव्य

---

* जोन्स (R. M. Jones) लिखते हैं—

"The Mystical Experience has undoubtedly a noetic value. But it consists in leaps of insight through heightened life, in an intensifying of vision through the fusing of all the deep-lying powers of intellect, emotions and will, and in a corresponding surge of conviction through the dynamic integration of personality, rather than in the 'gift' of new knowledge-facts."

—Encyclapaedia of Religion & Ethics.

की लीनता या 'रसप्रतीति' कहते हैं। प्रक्रिया भी वही स्वाभाविक और सीधी-सादी है। कल्पना या भावना, जिससे विज्ञात का भीतरी साक्षात्कार होता है और भाव या रागात्मिका वृत्ति, जिससे आनन्दानुभूति होती है, दोनो मनुष्य की स्वाभाविक वृत्तियाँ हैं। बस इन्हीं दो स्वाभाविक वृत्तियों के सहारे भक्तिरस की निष्पत्ति हो जाती है। इसके सीधे-सादे विधान में न इला पिंगला नाड़ियाँ है, न सहस्रार चक्र, न ब्रह्मरन्ध्र, न आसन, न प्राणायाम।

एक उदाहरण लीजिए। कोई शुष्क उपदेशक या ज्ञानी तो यह कह कर ही छुट्टी पा जाता है कि भगवान् जगत् की रक्षा, पालन और रंजन करते हैं। पर भक्त की जगी हुई भावना या कल्पना रक्षा, पालन और रंजन के न जाने कितने दृश्यों तक पहुँचती चली जाती है जिससे पालक और रंजक स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है और करुणा, शक्ति, शील, सौन्दर्य्य इत्यादि के अनन्त प्रवाह में अवगाहन कर के भक्त की सारी अन्तर्वृत्ति मंगल-विधायिनी हो जाती है। भक्त की अन्तर्दृष्टि का यही रमण, उसकी पहुँच की दूरी नहीं, उसकी यथार्थ विभूति है। भक्त का थोड़ा सा जानना भी औरों के बहुत अधिक जानने से अधिक कल्याणकारी होता है—उसके लिए भी, संसार के लिए भी। भक्त की सम्पत्ति केवल उसके प्रेम की गंभीरता है; किसी नई बात की जानकारी, कोई अलौकिक सिद्धि आदि नहीं। सर्वसाधारण में भक्तों को अलौकिक ज्ञान-सम्पन्न, अलौ-

लिक सिद्धि-सम्पन्न समझने की चाल योगियों के साथ उनका घालमेल करने के कारण चली है। वैष्णव भक्तिमार्ग तो सीधा-सादा प्रेममार्ग है और योग के सिद्धि-मार्ग से सर्वथा भिन्न है। इसमें अलौकिक ज्ञान, अलौकिक सिद्धि, करामात, चमत्कार आदि के लिए कोई जगह नहीं—

अति सूधो सनेह को मारग है जहँ नेकु सयानप बाँक नहीं।

भागवत पुराण में भक्ति के नौ प्रकार के विधान बताए गए हैं—

श्रवणं, कीर्त्तनं, विष्णोः स्मरणं, पादसेवनम्।
अर्चनं, वन्दनं, दास्यं, सख्यं, आत्मनिवेदनम्।

यह प्रेम-पुष्टि का सीधा-सादा और स्वाभाविक विधान है। इसमें वे ही बातें हैं जो किसी के अनन्य प्रेमी हो कर लोग बराबर किया करते हैं। लोग अपने प्रिय के सम्बन्ध की बातें सुनते हैं, उसकी बातों का वर्णन करते हैं, उसके गुण गाते हैं, मन में उसका स्मरण किया करते है इत्यादि। तुलसी, सूर आदि जितने भारतीय परंपरा-वाले (सगुणोपासक) भक्त हुए हैं सब ने भक्ति-मार्ग की सरलता और सुगमता पर बहुत अधिक जोर दिया है। वैष्णव भक्त भी ध्यान करते हैं, आँख भी मूँदते हैं, पर 'स्मरण' के लिए, स्वरूप को मन में लाने के लिए, 'अनाहत नाद' सुनने के लिए नही, सुरति की डोरी पकड़ कर निर्गुण और अव्यक्त तक पहुँचने के लिए नही। भागवत धर्म या वैष्णव भक्तिमार्ग के सम्बन्ध में यह बात अच्छी तरह ध्यान में रखनी चाहिए। इसकी

साधना का आधार मनुष्य की सहज रागात्मिका वृत्ति (Psychology of human emotions) है। इसकी पद्धति शुद्ध प्रेम-पद्धति है—वह प्रेम-पद्धति जिसे सब लोग स्वभावतः जानते हैं, जिसका अनुसरण थोड़ा बहुत प्राणिमात्र करते पाए जाते हैं, जिसके लिए कोई पेचीली शारीरिक या मानसिक क्रिया आवश्यक नहीं ; कोई अलौकिक सिद्धि अपेक्षित नहीं। योगसिद्धि की बातों के प्रचार से भक्ति के इस यथार्थ स्वरूप की भावना किस प्रकार आच्छन्न और बाधित हो रही थी, इसे लोकप्रवृत्ति पर सूक्ष्म दृष्टि रखनेवाले गोस्वामी तुलसीदास जी ने अच्छी तरह परख कर कहा था—

गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग,
निगम-नियोग सो तो कलि ही छरो सो है।

योग साधनात्मक रहस्यवाद है। हमारे यहाँ के वैष्णव भक्तिमार्ग में तो उसके लिए स्थान न था, पर फारस का रहस्यवादी सूफी सम्प्रदाय ज्यों ही भारतवर्ष में आया उसने उसका पूरा समावेश अपने भीतर कर लिया। योग के नाम से जो साधनात्मक रहस्यवाद बौद्ध और शैव सम्प्रदायों में चला आ रहा था वही सूफियों को मिला। वह बौद्धों के 'सहजिया' सम्प्रदाय से होता हुआ गोरखपंथियों में जिस रूप में था उसी रूप में सूफियों के बीच फैलता गया। कई प्रकार के रसायनी रहस्यवाद भी कुछ शैव सम्प्रदायों में चले आ रहे थे। इन सब की पूरी चर्चा कुतबन, जायसी इत्यादि 'प्रेममार्गी सूफी शाखा' के हिन्दी-

काव्यों में मिलती है। ध्यान देने की बात यह है कि सूफियों का रहस्यवाद भावात्मक था—उसमें हृदयपक्ष की प्रधानता थी। वह इस रूखे साधनात्मक रहस्यवाद की ओर कैसे लपका? लपकने का एकमात्र कारण था रहस्य की प्रवृत्ति, ज्ञान के किसी गुप्त अप्राकृत उद्गम का कुतूहल, जिसका पैगंबरी मजहबों के भीतर प्रवर्त्तित भक्तिमार्गों में प्राबल्य होना अनिवार्य्य था। सूफियों की देखादेखी उनके मेल का जो भक्तिमार्ग 'निर्गुण-पंथ' के नाम से कबीरदास के समय से चला उसमें भी रहस्य की प्रवृत्ति—भक्तों में अलौकिक ज्ञान के आरोप द्वारा सामान्य जनता में कुतूहल उत्पन्न करने की प्रवृत्ति—पूरी पूरी थी।

यह कहा जा चुका है कि हमारे यहाँ का भक्तिमार्ग ब्रह्म का उभयात्मक स्वरूप ले कर चला था। उसे सगुण भक्तिमार्ग कहने का अभिप्राय यह है कि वह प्रेम का वास्तविक संचार, हृदय का सचमुच रमण, ब्रह्म के उतने ही स्वरूप के भीतर मानता है जितना व्यक्त अतः सगुण है। प्रेम का संचार वहीं तक हो ही सकता है। अतः भारतीय भक्तिमार्ग का आरम्भ ही से यही पक्ष रहा और अब तक है। 'सगुण' विशेषण जो उसके साथ लगने लगा वह पीछे, जब कबीर द्वारा प्रवर्त्तित भक्तिमार्ग 'निर्गुण' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। 'निर्गुण' और 'अव्यक्त' को ले कर कभी कोई भक्तिमार्ग भारतीय आर्य्य धर्म के भीतर नही चला।

अव्यक्त को ले कर चलनेवाला हमारे यहाँ का योगमार्ग है। योगमार्ग भक्तिमार्ग से बिल्कुल अलग है। भक्तिमार्ग मनुष्य

की स्वाभाविक रागात्मिका वृत्ति को साधन बना कर चला है; योगमार्ग सम्पूर्ण रागात्मिका वृत्ति को, सारे मनोविकारों को, मार कर अन्तःकरण की एक रहस्यात्मक पद्धति द्वारा ब्रह्म के उस अव्यक्त स्वरूप के साक्षात्कार को लक्ष्य रख कर चला है जिसके पास तक तत्त्वचिन्तन द्वारा नहीं पहुँच सकते। अतः योगमार्ग का पुरुषार्थ एक प्रकार की ज्ञानोपलब्धि ही है, पर तत्त्वचिन्तन की प्रकृत पद्धति से नहीं, बल्कि अन्तःकरण की एक कठोर रहस्यात्मक प्रक्रिया से जिसमें प्रेम, अनुराग, स्नेह, आसक्ति इत्यादि का कहीं नाम नही। भागवत में इस योग की प्रक्रिया से भक्ति और सेवा की पद्धति को अलग ही नहीं, विशेष शान्तिप्रद भी बतलाया है—

यमादिभिर्योगपथैः कामलोभहतो मुहुः।
मुकुन्दसेवया यद्वत्तथाऽऽत्माऽद्धा न शाम्यति॥ (१-७-३६)।

सूफियों ने हिन्दुस्तान में आ कर क्यों और किस तरह योग-मार्ग को अपने प्रेममार्ग के साथ संयुक्त किया, इसका वर्णन ऊपर कर आए हैं। कबीरदास जी ने इसी योगमार्ग-सयुक्त प्रेममार्ग का प्रचार किया। 'निर्गुण भक्तिमार्ग' का ढाँचा सूफी ही रहा केवल उपास्य का स्वरूप वेदान्त के निर्गुण परब्रह्म का भी ग्रहण कर लेने से अव्यवस्थित हो गया। सूफियों के सिद्धान्तपक्ष में जो प्रतिबिंबवाद था वह एक प्रकार का सूक्ष्म-सगुणवाद था इसी से प्रकृति के प्रति उसमें बड़ी भावुकता थी। उनके प्रतिबिंबवाद के अनुसार जगत् का जो यह स्थूल रूप है उसी के अनुरूप पर अत्यन्त सूक्ष्म स्वरूप आत्मा या परमात्मा

का भी है * । यह स्थूल जगत् सूक्ष्म ब्रह्म की छाया या प्रतिबिंब है। पर-जगत् और दृश्य जगत् का यही सारूप्य ही सूफी रहस्यवाद की रमणीयता है जो उसे हृदय-रंजक बनाती है † । 'निर्गुण पंथ' ने वेदान्त के निर्गुण और अव्यक्त तथा योगियों के स्वान्तःस्थ ईश्वर—इन दोनो को जान या अनजान में समेट कर सूफियों के प्रेममार्ग का एक विलक्षण स्वरूप बनाया। उक्त पंथ की वाणी जहाँ प्रेमभाव की व्यंजना करती है वहाँ तो सूफ़ी ढंग पूरा पूरा रहता है, पर जहाँ वह ज्ञानोन्मुख होती है वहाँ योगियों और शुष्क वेदान्तियों का ढर्रा पकड़ती है। कबीरदास ने गोरख-नाथ आदि योगियों के साथ अपना मेल साफ शब्दों में मिलाया है—

गोरख, भरथरि, गोपीचंदा।
तेहि मन सों मिलि करहि अनंदा।
अकल निरंजन सकल सरीरा।
तेहि मन सों मिलि रहा कबीरा।

दृश्य जगत् और पर-जगत् की जिस सारूप्य-भावना का ऊपर उल्लेख है उसके बिना प्रेमयोग या भक्तिमार्ग चल ही

---

* दे० जायसीग्रंथावली की भूमिका।

† It is one of the axioms of mysticism that there is a correspondence between the microcosm and macrocosm, the seen and the unseen worlds.

—Encyclopaedia of Religion & Ethics.

नही सकता। उपनिषदों ने ब्रह्म के लिए जो 'व्यक्ताव्यक्त' शब्द का प्रयोग किया है उसमें सारूप्य की यह भावना स्पष्ट है। अव्यक्त की ही अभिव्यक्ति यह व्यक्त या दृश्य जगत् है। दोनो को एकदम भिन्न समझना भक्तिमार्गी ठीक नहीं मानता। भागवत में लिखा है कि जब सृष्टि के आदि में ब्रह्मा ने कमल पर बैठे बैठे चारो ओर ताका तो कही कुछ न दिखाई पड़ा जिससे वे समझते कि हम क्या हैं, कहाँ से उत्पन्न हुए। वे उस कमल-नाल का मूल ढूँढ़ते ढूँढ़ते बहुत नीचे तक गए, पर उसका अन्त न मिला। तब उन्होंने ध्यान किया और शेष पर सोए भगवान् का साक्षात्कार किया। उस समय वे बोले—

> नातः परं परम यद्भवतः स्वरूपमा-
> नन्दमात्रमविकल्पमविद्धवर्चः।
> पश्यामि विश्वसृजमेकमविश्वमात्मन्,
> भूतेन्द्रियात्मकमदस्त उपाश्रितोस्मि।

भारतीय भक्तिमार्ग में गृहीत इस अभिव्यक्तिवाद में और सूफियों द्वारा गृहीत वेदान्त के प्रतिबिंबवाद में जो थोड़ा सा भेद है उसे समझ रखना चाहिए। अभिव्यक्तिवाद इस जगत् को ब्रह्म का प्रकाश कहता है और प्रतिबिंबवाद उसकी छाया। अभिव्यक्तिवाद के अनुसार यह दृश्य जगत् भी ब्रह्म ही है; उसकी छाया नहीं। गीता में भगवान् ने स्पष्ट कहा है कि जगत् में जो कुछ ऊर्जित और दिव्य दिखाई दे वह मैं ही हूँ। इसका

तात्पर्य्य यही है कि सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म ही है पर हमारा परिमित ज्ञान ऐसा है कि उसके गोचर होने योग्य ब्रह्मत्व हमें सर्वत्र नहीं दिखाई पड़ता; कहीं कहीं दिखाई पड़ता है। अवतारों में ब्रह्मत्व सब से अधिक दिखाई पड़ा है इसी से ब्रह्मबुद्धि से उनकी उपासना चली है।

पैगंबरी मजहबों के भीतर चले हुए भक्तिमार्गों में प्रेमभाव का प्रधान आधार होने पर भी उनके अनुयायियों में ज्ञान-कौतुक की प्रवृत्ति क्यों बहुत अधिक रही और भारतीय सगुण भक्तिमार्ग के अनुयायियों में क्यों इसका प्राबल्य नहीं हुआ, इसका लंबा चौड़ा कारण है। लाल समुद्र के आसपास चले हुए मजहबों में एकेश्वरवाद की जो प्रतिष्ठा हुई वह ईश्वर के प्रेषित आदेश के रूप में अर्थात् रहस्यात्मक ढंग से। प्रवर्त्तकों ने ईश्वर के स्वरूप-चिन्तन की पद्धति का समावेश अपनी धर्मपुस्तकों में नहीं किया था, इससे मजहब में अक्ल को दखल देने से लोग डरते थे। पर जीव, जगत् और ईश्वर—इन अपने सब से बड़े विषयों की ओर गए बिना धार्मिकों की बुद्धि रह भी नहीं सकती थी। अतः मूल में न रहने पर भी ज्ञानकांड का समावेश पीछे से उन मजहबों में तत्त्वचिन्तक आर्य्य जातियों के 'ब्रह्मवाद' या अद्वैतवाद से ले कर हुआ। पर मनुष्य की प्राकृत बुद्धि का अधिकार स्वीकृत न होने के कारण तत्त्वज्ञान की बातों के प्रचार का एक यही उपाय था कि वे बातें बुद्धि से सोची हुई न कही जायँ, सीधे ईश्वर के यहाँ से भक्त महात्माओं के अंतस् में प्रेषित कही जायँ। अतः

आर्य्य जातियों का 'ब्रह्मवाद' पैगंबरी मजहबों के रहस्यवाद का आधार हुआ * ।

ईसाई धर्म का इतिहास लीजिए। उसका मूल रहस्यात्मक स्वरूप तो यहूदी धर्म की परंपरा से ही आया था जिसमें फरिश्तों के द्वारा ईश्वर के सन्देश की प्राप्ति, विलक्षण विलक्षण रूपक-संकेतों द्वारा ईश्वरीय बातों को प्रकट करनेवाले स्वप्न आदि का प्रचार चला आता था †। पीछे जिस तत्त्वज्ञान या ज्ञानकांड का ईसाई रहस्यात्मक भक्तिमार्ग में समावेश किया गया वह सुकरात, फलातून, आरस्तू, सोतिनस इत्यादि यूनानी दार्शनिकों के निरूपित सिद्धान्तों के आधार पर था। ये सिद्धान्त वास्तव में वे ही थे जिनका प्रतिपादन भारतवर्ष में उपनिषदों के भीतर बहुत प्राचीन

---

* Mystical states of mind in every degree are shown by history to make for the monad the view.

—W. James (Pragmatism)

† The belief in mystical theology and its connected phenomena was taken over by Christianity from Judaism. Judaism tended to regard God as so transcendent and ineffable that He could deal with creatures only by angelic mediation. It was the fashion to see or write of apocalypes, symbolic visions, angelic ministers.

—Encyclopaedia of Religion & Ethics.

काल में हो चुका था और जो वेदान्त के आधार हुए। ब्रह्म और जीव का वही स्वरूप और सम्बन्ध ; पर ब्रह्म की वही निर्विशेषता और अप्रमेयता, वही 'नेति नेति', दृश्य और गोचर की वही इयत्ता और क्षणभंगुरता जो उपनिषद् और वेदान्त में कही गई थी, उक्त यूनानी दर्शनों में भी थी * ।

इसी प्रकार फारस की सीमा पर इसलाम धर्म के भीतर जिस रहस्यात्मक सूफी भक्तिमार्ग का प्रचार हुआ उसका आधार अधिकतर भारतवर्ष का वेदान्ती अद्वैतवाद था। तात्पर्य्य यह कि उक्त भक्तिमार्ग का जो रहस्यात्मक स्वरूप था वह तो सामी

---

* The fundamental metaphysics in which the doctrine of Christian mysticism is grounded in Greek rationalistic metaphysics, formulated by Socrates and his great successors Plato, Aristotle and Plotinus. × × × ×

God, according to this Greek interpretation is Absolute Reality with no admixture of matter i. e. with no potetentiality or possibility of change. There is, however, something in the human soul which is unsundered from the Absolute, something which essentially is that Reality. × × × × This intellectual formulation necessarily involves a *vianegativa*. He is not 'this', He is not 'this'.

—Encyclopaedia of Religion & Ethics.

(Semitic) मज़हब का था, और उसका जो तत्त्वज्ञानात्मक (Rationalistic) आधार था, वह आर्य्य जाति के ज्ञानकांड का था। सूफ़ियों पर चाहे यूनानी दर्शन (Neo-Platonism) का भी कुछ प्रभाव पड़ा हो, क्योंकि तत्त्वज्ञान की कुछ यूनानी पुस्तकों के छायानुवाद भी अरबी में हुए थे, पर उनके पूरे सिद्धान्त की नीवँ भारतीय वेदान्त पर ही पड़ी थी। जिस साहस के साथ उन्होंने 'अनलहक़' की घोषणा की थी वह उपनिषदों के 'तत्त्वमसि' और 'अहं ब्रह्मास्मि' वाला साहस था। उनका 'प्रतिबिंबवाद' वेदान्त के विवर्त्तवाद, दृष्टिसृष्टिवाद, अजातवाद आदि अनेक वादों में से एक प्रसिद्ध वाद है। मूल धर्म का स्वरूप रहस्यात्मक होने के कारण तत्त्वज्ञान की इन बातों की उपलब्धि रहस्यात्मक ढंग से ही मानी जा सकती थी। अतः ऐसी बातें महात्माओं के अंतस् में प्रेमोन्माद की तुरीयावस्था में प्रेषित कही जाती थीं। इसी रूप में उनका समावेश मज़हब के भीतर हो सकता था।

भक्तिमार्ग अपने विशुद्ध रूप में धर्मभावना का भावात्मक या रसात्मक विकास है। यह विकास उपास्य ईश्वर के स्वरूप की प्रतिष्ठा के उपरान्त ही होता है। स्वरूप की यह प्रतिष्ठा तत्त्वचिन्तन या ज्ञान की प्रकृत पद्धति के द्वारा ही हो सकती है और सर्वत्र हुई है। परोक्ष के सम्बन्ध में, ईश्वर के सम्बन्ध मे, मूल नित्य सत्ता के सम्बन्ध मे, जो बातें कही जायँगी वे वास्तव में शुद्ध बुद्धि की क्रिया द्वारा ही प्रस्तुत मानी जा सकती हैं। रागात्मिका वृत्ति द्वारा, भावोन्माद

द्वारा, ऐसी बातें तो दूर रहें, साधारण बातें भी नहीं जानी जा सकतीं। न हम कान से देख सकते हैं, न नाक से सुन सकते है। पर भावात्मिका भक्ति क्यों और किस प्रकार ज्ञान का भी एक रहस्यमय साधन पैगंबरी मज़हबों के भीतर मानी गई, यह हम ऊपर दिखा आए। ज्ञान इने गिने लोगों की संपत्ति होता है। ज्ञान के अधिकारी वे ही हो सकते हैं जिनमें बुद्धि का विकास अधिक हो, जिनकी ग्रहण-शक्ति शास्त्र-चिन्तन आदि द्वारा परिष्कृत, व्यवस्थित और समुन्नत हो। पर भक्ति का अधिकार, गहरी से गहरी भक्ति का अधिकार, मूर्ख से मूर्ख को भी पूरा रहता है। अतः किसी में केवल भक्ति देख कर उसे ज्ञान का भी अधिकारी मान लेने की चाल चल पड़ने का यह परिणाम अनिवार्य्य है कि भक्ति की ओट में बहुत से मूर्ख भी ऐसे बड़े बड़े विषयों की अनधिकार चर्चा करते फिरे जो उनकी बुद्धि में कभी धँस ही नहीं सकते।

चिन्तन करनेवाली निश्चयात्मिका बुद्धि भी, सूक्ष्म और दूरारूढ़ ज्ञान का एकमात्र साधन होने के कारण, ईश्वर का बड़ा भारी प्रसाद है। इस बात का पूर्ण स्वीकार आर्य्यधर्म के प्रारम्भिक काल में ही हुआ और श्रुति के भीतर ही ज्ञानकांड की प्रतिष्ठा उपनिषदों के रूप में हुई। उपनिषद् तत्त्वचिन्तक ज्ञानसम्पन्न ऋषियों के आध्यात्मिक विचारों के संग्रह है। उनमें बहुत से स्थल संवाद के रूप में है, जिनमें शंका-समाधान भी है। इस प्रकार उनका तत्त्वज्ञानात्मक (Rationalistic) स्वरूप स्पष्ट है। उनमें उपासना का

संकेत भी बीच बीच में है, पर उनका प्रधान लक्ष्य ब्रह्म के तात्त्विक या पारमार्थिक स्वरूप की प्रतिष्ठा है। हमारे यहाँ की कई हज़ार वर्ष पुरानी परंपरा भी वेदों के उपनिषद्-भाग को 'ज्ञानकांड' कहती चली आ रही है। उपनिषदों के स्फुट विचारों को ही व्यवस्थित शास्त्र के रूप में संकलित करने के लिए बादरायण ने ब्रह्मसूत्रों की रचना की।

ऊपर कह आए हैं कि 'पूजा' के उपरान्त 'उपासना' और 'भक्ति' का जो विकास हुआ वह उपास्य ईश्वर के स्वरूप की प्रतिष्ठा—ज्ञानकांड के अनुष्ठान—के उपरान्त हुआ। इसका स्पष्ट संकेत जिस क्रम से धर्म के तीनो कांडों के नाम लिए जाते हैं वह क्रम देता है—कर्म, ज्ञान और उपासना; कर्मकांड, ज्ञानकांड और उपासनाकांड। स्वरूप-चिन्तन के पहले परोक्ष शक्ति की तुष्टि के लिए जो विधान होते थे वे 'पूजा' के ही अन्तर्भूत थे। मानसी पद्धति में पूजा से आगे बढ़ कर 'उपासना' का भाव है, जो स्वरूप-चिन्तन द्वारा परिचय बढ़ने पर ही जगता है। 'उपासना' के आगे 'भक्ति' है। इस भक्ति का सब से प्राचीन प्रतिपादक ग्रन्थ गीता है जिसमें प्रेम या भक्ति से अलग ज्ञानमार्ग का स्पष्ट निर्देश है। भागवत में भी यही बात है। भक्ति को ले कर आगे जो भिन्न भिन्न सम्प्रदाय चले वे भी आचार्य्यों के तर्क और तत्त्वचिन्तन द्वारा निरूपित स्पष्ट सिद्धान्तों को आधार मान कर चले। रामानुज, निम्बार्क, वल्लभ आदि आचार्य्यों ने ब्रह्मसूत्र अर्थात् वेदान्त दर्शन की अपनी अपनी

प्रज्ञा और भावना के अनुसार व्याख्या कर के भिन्न भिन्न वैष्णव भक्त-सम्प्रदायों का प्रवर्त्तन किया। सारांश यह कि भारतीय भक्तिमार्ग में ज्ञान की उपलब्धि और भाव की उपलब्धि बराबर अन्तःकरण की दो अलग अलग वृत्तियों द्वारा मानी गई है। किसी कोरे भक्त को, जो शास्त्र-ज्ञान-सम्पन्न न हो, अपने को ज्ञानी प्रकट करने का साहस नहीं हुआ है।

शास्त्र-ज्ञान-सम्पन्न हो कर भी अपनी प्रवृत्ति के अनुसार जिन्होंने विशुद्ध हृदय-पद्धति या भक्तिमार्ग का अवलंबन किया वे हृदय के निष्कपट सीधे-सादे प्रेमभाव को ही अपने लिए भगवान् का प्रसाद या अनुग्रह समझते आए। रहस्यज्ञाता या परोक्ष-द्रष्टा समझे जाने के लिए अपने मन, वचन और कर्म को कुछ वक्र और विलक्षण रूप देने की चाल उनमें नहीं चली। ऐसी बातें उनके प्रेममार्ग की दीनता और सरलता के सिद्धान्त के विरुद्ध थीं। सीधा मत्त, सीधी वाणी और सीधे कर्म इन भक्तों के लक्षण रहे। सूर और तुलसी भक्त होने के साथ ही पढ़े लिखे विद्वान् थे। कबीरदास की अपेक्षा वेदान्त, योग इत्यादि की बाते—जैसे, ब्रह्म, जीव, माया, पंचेन्द्रिय, षड्रिपु, इला, पिंगला, चक्र, ब्रह्मरंध्र इत्यादि—वे कहीं अधिक और अच्छी तरह जानते थे। वे यदि चाहते तो उन बातों को ले कर वे भी बड़े बड़े उलझाऊ रूपक बाँधते, तरह तरह की टेढ़ी पहेलियाँ गढ़ते और पंडितों से बुझाते। पर ऐसा चाहना उनकी भक्ति की स्वाभाविक सरलता के विरुद्ध था।

शास्त्र में निरूपित साधारण बातों को ही ले कर पहेली गढ़ना और उसके द्वारा यह प्रकट करना कि हम ऐसी बातें जानते हैं जो किसी के द्वारा नहीं जानी गई, वे अपना काम नही समझते थे। ऐसे काम का इसके सिवा कोई फल भी नहीं कि अशास्त्रज्ञ और तत्त्वज्ञान-हीन जनता कुतूहल-मुग्ध और आश्चर्य्य-भ्रान्त हो कर मुहँ ताके। कबीर या और किसी रहस्योन्मुख निर्गुण भक्त की वाणी में क्या कोई एक भी ऐसी तत्त्व की बात बता सकता है जो शास्त्र की एक बहुत ही साधारण बात न हो? उक्ति-वैलक्षण्य मात्र में कोई नया तथ्य नहीं होता। किसी रहस्यदर्शी भक्त ने आज तक कहीं तत्त्वज्ञान की कोई नई बात बताई है? सौ बात की एक बात यह कि जो भक्त हो वह भक्त की राह रहे। पर रहस्य-ज्ञान के प्रवाद से ग्रस्त भक्त अपना मन विशुद्ध भक्ति के मार्ग पर रख नहीं सकता। वह कोई बात पूरी तरह न जानने पर भी इशारेबाज़ी करने के लिए इधर उधर ज़रूर दौड़ा करेगा। निर्गुण-सम्प्रदाय के भक्तों ने अपना रहस्यज्ञानी स्वरूप छोड़ कर भक्त के रूप में जो शुद्ध भाव-प्रेरित उक्तियाँ कहीं हैं वे बड़ी ही हृदय-ग्राहिणी हैं; पर ब्रह्म, जीव, माया, पंचेन्द्रिय, योग की नाड़ियों, चक्रों आदि को ले कर जो रूपक और पहेलियाँ रची हैं उनका न तो काव्य-क्षेत्र में कोई मूल्य है, न ज्ञानक्षेत्र में।

जगत् की कार्य्य-कारण-परंपरा से बाहर की किसी अज्ञात शक्ति के योग या हस्तक्षेप से मन के भीतर या बाह्य जगत् में ऐसी बातें घटित होने की धारणा जो प्राकृतिक नियमानुसार न

निष्पन्न हुई हों—एक प्रकार की रहस्य-भावना तो यह है। दूसरे प्रकार की समुन्नत और सच्ची रहस्य-भावना वह है जिसका उपयोग भाव के सम्यक् संचार के लिए काव्य या भक्ति की रस-पद्धति में होता है। इस दृष्टि से विचार करने पर हमें रहस्यवाद तीन रूपों में गृहीत मिलता है—

(१) **भावोपलब्धि के साधन के रूप में।** रहस्य की प्रवृत्ति को ऐसी जगह यहीं मिल सकती है जहाँ से वह कोई गड़बड़ न कर सके। रहस्य-भावना का यदि कहीं मूल्य हो सकता है तो भाव के क्षेत्र में—पर यदि वह उसी क्षेत्र के प्रकृत विधान के भीतर रहे और उसमें भी उपयुक्त अवसर पर योग दे। उसके द्वारा कभी अपनी प्रिय और मधुर जीवन-भावना के अवस्थान के लिए किसी अज्ञात क्षेत्र की ओर बड़ा सुहावना संकेत मिलता है, कभी मनोरंजक कुतूहल या आश्चर्य्य की स्तब्धता के मिश्रण से भावों में अत्यन्त रमणीयता या तीव्रता आ जाती है, कभी ज्ञात के परे भी आलंबन की सत्ता की भावना आ जाने से हमारे भाव ज्ञान की सीमा को पार करते जान पड़ते हैं। शिशिर के अन्त में धूल छाई रहने के कारण किसी बड़े मैदान के क्षितिज से मिले हुए छोर पर वृक्षावलि की जो धुँधली श्यामल रेखा दिखाई पड़ती है उसके पार हमारी कल्पना को किसी अत्यन्त प्रिय और मधुर अतीत या भविष्य जगत् के अवस्थान के लिए अवकाश मिलता है। इसी प्रकार अज्ञात की भावना के मेल से भाव में एक अद्भुत गूढ़ता आ जाती है।

इसका अनुभव सामान्य व्यापारों में भी कभी कभी होता है। यदि कोई अज्ञात रह कर किसी की ठीक समय पर आपत्ति से रक्षा करता चला जाय तो उसके प्रति जो कृतज्ञता या पूज्य-बुद्धि होगी उसकी अनुभूति कुतूहल-मिश्रित हो कर बड़ी ही अनूठी होगी। इसी प्रकार किसी अज्ञात द्वारा समय समय पर उपस्थित की हुई आपत्ति का भय अत्यन्त स्तम्भित करनेवाला होगा।

जिसकी शक्ति या महत्ता की बड़ी गहरी धारणा मन में होती है उसके सम्बन्ध में बातचीत करते हुए आश्चर्य-मुग्ध हो कर हम प्रायः कहा करते हैं कि 'न जाने कहाँ से उसमें इतनी शक्ति आ जाती है ; न जाने कैसे वह इतने बड़े बड़े काम बात की बात में कर डालता है ; न जाने सब बातें उसे पहले से कैसे मालूम हो जाती हैं'। यही 'न जाने' रहस्य का मूल मंत्र है। इस 'न जाने' के आ जाने से—'कौन', 'किसका', 'कहाँ', 'कहाँ से', 'किस ओर' आदि जिज्ञासा की प्रणाली के अवलंबन से—महत्त्व, शक्ति, ऐश्वर्य्य, सौन्दर्य्य इत्यादि की भावना का बहुत अधिक प्रसार प्रतीत होता है। इस प्रकार की रहस्य-योजना भक्ति-काव्य के क्षेत्र में अधिक होती है जिससे हमारी भावना ज्ञान की सीमा को पार करती सी जान पड़ती है। इसी को लाक्षणिक भाषा में 'भावना का असीम की ओर जाना' कह सकते हैं। इसका अभिप्राय सिर्फ इतना ही है कि जहाँ तक व्यक्त और ज्ञात है उसके आगे भी न जाने क्या और कितना है। अज्ञात अज्ञात ही रहता है। दूसरी बात यह कि इस रहस्य-योजना के काव्य या भक्ति-

रस में उपयुक्त स्थल होते हैं। जगह जगह 'कौन', 'कहाँ से', 'किस ओर' इत्यादि रखना खेलवाड़ सा हो जाता है।

भक्तिरस में यह रहस्य-प्रवृत्ति अधिकतर ईश्वर को कुछ ज्ञात और कुछ अज्ञात भूमि में रख कर उनके महत्त्व और असीमता की भावना करने में—जिसे अचिन्त्यैश्वर्य्य-योग कहते हैं—काम आती है। यह भावना ईश्वर को जितना ही अधिक अज्ञात की ओर रख कर होगी उतनी ही रहस्यात्मक कही जायगी। अर्थात् ईश्वर के किसी सगुण और व्यक्त स्वरूप की भावना के साथ ही साथ जितनी अधिक यह भावना भी लगी रहेगी कि इसके आगे वह न जाने क्या और कहाँ तक और है, उतना ही अधिक 'रहस्य' की ओर झुकाव कहा जायगा। ऐसी भावना में कुतूहल और आश्चर्य्य प्रधान भाव होंगे। इस कुतूहल या आश्चर्य्य की रहस्यात्मक रमणीयता ज्ञात और अज्ञात, व्यक्त और अव्यक्त, ससीम और असीम, इन विरुद्धों को एक साथ रखने में अनुभूत होती है*।

सब जगह भक्तिमार्ग ब्रह्म के उभयात्मक स्वरूप को ले कर चला है। अतः यह प्रकट करना कि व्यक्त और ससीम से हम से

---

* In the very contrast of the finite with the ineffable the mysticism lives, whether it be Hindu or Christian mysticism.

—J. Royce (The World & the Individual)—

कोई मतलब नहीं हम तो केवल असीम में जा कर रमा करते हैं भक्ति के वास्तविक सिद्धान्त के विरुद्ध है। हम यह अच्छी तरह दिखा आए हैं कि अव्यक्त, निर्गुण, असीम इत्यादि निषेधवाचक शब्दों का अभिप्राय केवल इतना ही है कि जहाँ तक ब्रह्म हमारी परिमित बुद्धि को व्यक्त है, जिस सीमा तक हमारा ज्ञान पहुँच सकता है, जिस गुण-समूह तक हमारी अनुभूति जा सकती है, उसके आगे भी वह अनन्त है, उसके आगे उसका स्वरूप न जाने कैसा है, उसके आगे उसके गुण न जाने क्या क्या हैं[1]। अतः व्यक्त और ससीम को ही ले कर भक्त ध्यान करने बैठता है, पर

---

१ [इस वाक्य के अनंतर त्रुटि का चिह्न लगाकर लिखा है—'Quote रघुवंश X'। रघुवंश के दशम सर्ग में रावण के उपप्लव से पीड़ित देवताओं ने जब समुद्र-तट पर जाकर विष्णु की स्तुति की है तो उभयात्मक स्वरूप का कीर्तन इस प्रकार किया है—

अमेयो मितलोकस्त्वमनर्थी प्रार्थनावहः।
अजितो जिष्णुरत्यन्तमव्यक्तो व्यक्तकारणम् ॥१८॥ इत्यादि।

और अंत में यह कह दिया है कि

महिमानं यदुत्कीर्त्य तव संह्रियते वचः।
श्रमेण तदशक्त्या वा न गुणानामियत्तया ॥३२॥

अर्थात् ब्रह्म की महिमा के उत्कीर्तन मे वाणी के रुकने का कारण गुणों की इयत्ता नही, श्रम अथवा अशक्ति है। उसके अनंत गुणो का कथन संभव ही नहीं है।]

उसमें यह भावना और जोड़ देता है कि वह यहीं तक नहीं है इसके आगे भी न जाने क्या और कहाँ तक है।

गोस्वामी तुलसीदास, सूरदास इत्यादि शुद्ध भक्तिमार्गी कवि राम या कृष्ण की नरलीला का मुग्ध वर्णन करते करते जो यह भी संकेत कर देते हैं कि ये वही ब्रह्म है जो व्यापक, अव्यक्त, निर्गुण, अप्रमेय इत्यादि हैं उसका तात्पर्य्य सम्यग्दर्शन के लिए ब्रह्म के इन दोनो व्यक्ताव्यक्त, सगुण-निर्गुण, मूर्त्तामूर्त—स्वरूपों को एक साथ रख कर भावना करना है। ज्ञानपक्ष में इस उभयात्मक भावना से इयत्ता का परिहार होता है और भावपक्ष में कुतूहल और आश्चर्य्य की योजना। तुलसीदास जी ने राम में ब्रह्म के उभयात्मक स्वरूप की भावना स्पष्ट शब्दों में की है—

जय सगुन-निर्गुन रूप राम अनूप भूप-सिरोमने।

शुद्ध भक्तिमार्ग के अनुयायी का यही पक्ष हो ही सकता है। ईश्वर के महत्त्व और असीमता की एक अस्फुट भावना जगा कर भक्त को आश्चर्य्य-मुग्ध करने के लिए अज्ञात की ओर संकेत तथा भगवान् को रागात्मक हृदय के बिल्कुल पास लाने के लिए कल्पना में उनके किसी मधुर और रमणीय विग्रह की प्रतिष्ठा—बस यहीं तक रहस्यवाद का उपयोग हम असली और सच्चा मानते हैं।

(२) ज्ञानोपलब्धि के साधन के रूप में। इसके आगे जहाँ ज्ञान के क्षेत्र पर उसका धावा होता है, जहाँ वह ज्ञान

का एक साधन बनने लगता है, वहाँ वह एक झूठे खेल के सिवा और कुछ नहीं रह जाता। पर इस प्रकार के खेल भी बराबर रहस्यज्ञानी भक्त और रहस्यवादी कवि खड़े किया करते हैं। वे अव्यक्त को अव्यक्त ही कह कर नहीं छोड़ना चाहते। अपनी दृष्टि की दिव्यता का प्रमाण देने के लिए, अव्यक्त तक अपने ज्ञान की पहुँच सूचित करने के लिए, वे उस अव्यक्त का वर्णन भी करने लगते हैं। ज्ञान की पहुँच या सिद्धि दिखानेवाले भक्त हुए तो निर्विशेषता का ब्योरा देने बैठते हैं—जैसे, जहाँ न रात है न दिन है, न अँधेरा है न उजाला है, न पाप है न पुण्य है; प्रेम ही प्रेम है इत्यादि। यदि रहस्यवादी कवि हुए तो प्रकृति के रंग-रूप को ले कर तरह तरह के विराट् और अलौकिक चित्र खड़े कर के यह धारणा उत्पन्न करना चाहते हैं कि हमारी दिव्य कल्पना उस असीम और अव्यक्त तक पहुँचा करती है। भावना या काव्यकला की दृष्टि से ऐसे चित्रण का कुछ मूल्य अवश्य होता है, पर उक्त धारणा उत्पन्न करने की चेष्टा की झलक से उसमें बट्टा लग जाता है। कोरी कल्पना की उड़ान को हम ब्लेक (Blake) की तरह आध्यात्मिक तथ्य का साक्षात्कार या ज्ञानोपलब्धि नहीं मान सकते।

(३) अर्थोपलब्धि के साधन के रूप में। कर्म के क्षेत्र में रहस्य की प्रवृत्ति का परिणाम सब से बुरा होता है। जिस फल की प्राप्ति उपयुक्त श्रम और सोचे समझे उद्योग से होती है उसे अनायास एक अलौकिक सिद्धि के रूप में रहस्यात्मक ढंग से

प्राप्त करने की वासना के कारण चिरकाल से मनुष्य जाति अपने समय, धन और शक्ति का अपव्यय करती चली आ रही है। योग की अनेक प्रकार की अलौकिक सिद्धियाँ, यंत्र, मंत्र, तंत्र इत्यादि इसी वासना-वाला रहस्यवाद है।

इन तीनो प्रकार के रहस्यवादो में से तीसरे को तो पाश्चात्य विद्वान् भी झूठा रहस्यवाद (False mysticism) कहते हैं। पर हम दूसरे को भी झूठा रहस्यवाद मानते हैं। जिस प्रकार किसी फल या वस्तु की उपलब्धि के लिए रहस्यवाद असत् है, उसी प्रकार ज्ञान की उपलब्धि के लिए भी। हम केवल भाव (Emotion, Sentiment) की उपलब्धि के लिए उसका अवलंबन ठीक और सच्चा मानते हैं। क्यों पाश्चात्य विद्वान् ज्ञान की उपलब्धि-वाले रहस्यवाद के विरुद्ध कुछ कहना नहीं चाहते, इसका कारण उनके भक्तिमार्ग के विकास की पद्धति पर, जिसका थोड़ा सा दिग्दर्शन ऊपर हो चुका है, ध्यान देने से स्पष्ट हो जायगा।

यहूदी धर्म और ईसाई धर्म दोनो का स्वरूप मूल में केवल रहस्यात्मक था, उसमें तत्त्वचिन्तन की पद्धति अर्थात् ज्ञानकांड का उपदेश नहीं था। अतः भक्ति के उदार और व्यापक विधान के लिए जब एकेश्वरवाद (Monotheism) के स्थान पर आर्य्य जातियों का ब्रह्मवाद या अद्वैतवाद (Monism) लिया गया तब रहस्यात्मक ढंग से अर्थात् ईश्वरानुग्रह-प्राप्त भक्त महात्माओं के हृदय में भावावेश के समय अनायास प्रेपित ज्ञान या इलहाम के

अनिर्वचनीयता का अभिप्राय यही है कि जहाँ तक ब्रह्म ज्ञेय और व्यक्त है वहीं तक वह नहीं है, उसके परे भी जो कुछ है सब ब्रह्म ही है। ज्ञेय और व्यक्त के परे ब्रह्म कैसा है, यह जाना ही नही जा सकता। बस, अनिर्वचनीयता का इतना ही मतलब है। बाष्कलि के तीन बार पूछने पर कि 'ब्रह्म कैसा है ?' बाह्व का तीनो बार चुप रहना और अन्त में कहना कि 'बता तो रहा हूँ' (अर्थात् ब्रह्म कैसा है, यह बताया ही नहीं जा सकता) यही सूचित करता है। उसका मतलब यह नहीं कि इस दृश्य और व्यक्त के परे अव्यक्त निर्गुण ब्रह्म जैसा है उसे बाह्व जी एक रहस्यवादी सिद्ध की तरह पूरा जाने हुए बैठे थे, पर उनसे कहते नहीं बनता था। इस उपाख्यान को तो अव्यक्त को बताने के ढोंग का श्रुति-निषेध ही समझना चाहिए। इसी लिए शंकराचार्य्य जी ने अपने भाष्य में इसका उल्लेख किया है।

अद्वैत या एकत्व-सिद्धि की प्रवृत्ति लीजिए। जगत् के इन बदलते हुए नाना रूपों की तह में कोई एक नित्य, अपरिच्छिन्न और अपरिणामशील सत्ता है, मनुष्य की सोचनेवाली बुद्धि ज्ञान-विकास की उन्नत दशा में अवश्य इस बात तक पहुँचती है। दर्शनशास्त्र (Metaphysics) का यही मुख्य विषय है। यह कोई इलहामी बात नहीं है।

सान्त से असन्तोष भी सभ्य दशा को पहुँची मनुष्य जाति के लिए स्वाभाविक है। जब उसकी बुद्धि इस विराट् विश्व की ओर देखती है तब उसकी अनन्तता और प्रवाह-नित्यता का

ग्नुमान बँधता है और वह सान्त रूपों के चिन्तन से सन्तुष्ट न
ो कर अनन्त और नित्य समष्टि के चिन्तन की ओर बढ़ती है।
ाह ज्ञानियों की जिज्ञासा या ज्ञानपिपासा है; रहस्य-भावना नहीं।

इसी प्रकार अन्तस् के मूल में चित् या द्रष्टा के रूप में जिस
कार आत्मा स्थित है उसी प्रकार इस अखिल विश्व की तह में
ोई चित् या परमात्मा है, यह भी सोचते सोचते, तत्त्वचिन्तन
रते करते, एक अनुमान की हुई बात है; गैब से कान में फूँकी
ई बात नहीं।

अब रही भावुकता। यह हम दिखा आए हैं कि हृदय के
ोग के विना बुद्धि द्वारा निरूपित ज्ञान निष्फल है; उसकी कुछ
ार्थकता नहीं। इसी से उपनिषदों में ज्ञान की पूरी पूरी
तिष्ठा के साथ साथ उपासना का भी संकेत है। ज्ञान और
ाव का प्रकृत क्रम हम यह ऊपर बता आए हैं कि पहले तत्त्व-
चेन्तन द्वारा स्वरूप की प्रतिष्ठा होती है; फिर उस स्वरूप में
हृदय का योग होता है। मनुष्य की बुद्धि और मनुष्य का हृदय,
न्हीं दोनो अन्तर्वृत्तियों का ठीक और स्वाभाविक ढंग से संचालन
उपनिषदों के ज्ञानकांड और उपासनाकांड दोनो का विधान है।

इनके अतिरिक्त उपनिषदो की जो और बातें उनका रहस्या-
मक स्वरूप दिखाने के लिए पेश की जाती हैं उनका भी लगे
ाथ विचार कर लेना चाहिए। बृहदारण्यक उपनिषद् में ब्रह्म-
चेन्तन की मग्नता या ब्रह्मानन्द की अनुभूति का इस दृष्टान्त
द्वारा वर्णन किया गया है—

'जैसे पुरुप को अपनी प्रियतमा स्त्री के आलिंगन काल में यह सुध नहीं रहती कि क्या बाहर है क्या भीतर उसी प्रकार जब उपासक प्राज्ञ द्वारा आलिंगित होता है, तब उसे भीतर-बाहर की सुध नहीं रहती'।[1]

यह जिस स्वरूप की उपासना की जाती है उसी स्वरूप की भावना की चरम दशा का वर्णन है जिसका उल्लेख मैं पहले कर आया हूँ। यह 'विज्ञात' स्वरूप के 'साक्षात्कार' की अवस्था है। यह न तो योगियों की तुरीयावस्था है, न सूफियों का 'हाल' है, न मूर्च्छा है, न बेहोशी। उपनिषदों में किसी ऋषि की मूर्च्छा या बेहोशी की कहीं कुछ भी चर्चा नहीं है। उपनिषदों की बातें बेहोशों और मूर्च्छितों की बातें नहीं हैं; स्वाभाविक पद्धति से तत्त्वचिन्तन करनेवाले ऋषियों की बातें हैं।

बृहदारण्यक के उक्त वचन में सूफियों और कैथलिक ईसाइयों का 'माधुर्य्य भाव' भी किसी किसी को दिखाई पड़ता है। पर वह वचन केवल दृष्टान्त रूप में कहा गया है; 'जैसे' शब्द से यह बात स्पष्ट है। उसमें उपास्य ब्रह्म की प्रियतमा के रूप में भावना नहीं है; केवल स्वरूप-साक्षात्कार की अनुभूति का

---

१ [तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा अवहतपाप्माऽभयं रूपं तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरमेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरं तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामं रूपं शोकान्तरम्। (४-३-२१)]

उपमिति प्रमाण द्वारा अनुमान कराया गया है। एक स्थान पर उपनिषद् में यही बात इस ढंग से कही गई है कि ब्रह्म-साक्षात्कार का आनन्द या ब्रह्मानन्द प्रियतमा के समागम से सौगुना होता है। हमारे यहाँ के कृष्णोपासक भक्त-सम्प्रदाय में जो 'माधुर्य्य भाव' पाया जाता है उसमें और सूफियो तथा रोमन कैथलिक ईसाइयों के 'माधुर्य्य भाव' में स्वरूप-भेद है उसे हम आगे चल कर दिखाएँगे।

पाश्चात्य दृष्टि के अनुसार धर्म का भक्तिपक्ष या प्रेमपक्ष रहस्यवाद (Mysticism) कहलाता है और भक्ति या प्रेम का आधारभूत तत्त्वज्ञान भी उसी रहस्यवाद के भीतर घसीटा जाता है। योरप के लोग हमारे भक्तिमार्ग का भी वर्णन 'रहस्य-वाद' के नाम से करते है और उपनिषद् के ज्ञानकांड को भी, उसमें दर्शन-शास्त्र या वेदान्त का मूल देखते हुए भी, रहस्यवाद कहते है। अतः 'रहस्यवाद' शब्द की जो भावना योरप में है उसी के ठीक ठीक अनुरूप अपने यहाँ के भक्तिमार्ग की और उपनिषद् की ब्रह्मविद्या की व्याख्या करने की प्रवृत्ति यहाँ भी कुछ दिनो से दिखाई पड़ती आ रही है। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने लेखों, व्याख्यानों तथा अपने आत्मचरित में उपनिषदों पर रहस्यवाद का बहुत कुछ रंग चढ़ाया, जो योरपवालों को बहुत पसंद आया। विदेशी संस्कृति के देश में कुछ गहराई तक फैलने से विदेशी दृष्टि से अपने यहाँ की बातों को देखने का रवाज इतिहास, काव्य आदि में भी थोड़ा बहुत पाया जाता है।

शुद्ध ज्ञान के प्रकरण में तो सम्यक् दृष्टि चाहिए—न देशी, न विदेशी।

यूनानी, रोमन् आदि और प्राचीन आर्य्य जातियों के समान प्राचीन भारतीय आर्य्यों की दृष्टि भी तात्त्विक ही रही*। उपनिषद् का 'ज्ञानकांड' पाश्चात्यों को 'रहस्यकांड' के रूप में केवल इसलिए दिखाई पड़ता है कि उनमें कहीं कहीं जिस पद्धति से स्वरूप-निरूपण हुआ है वह चिन्तन-पद्धति या तर्कपद्धति नहीं दी हुई है। पर उपनिषदों में विचार-धारा बराबर मिलती है। बातों को दृष्टान्त आदि दे कर समझाने का प्रयत्न बराबर पाया जाता है। याज्ञवल्क्य जी

---

* Taken all in all, it is evident that mysticism played an inconspicuous role in the religious life of the Hellenes. The Greek genious loved clearness and self-passession too well to seek the divine in mystical darkness and self-surrender.

× × × ×

Perhaps no semi-civilized people was ever more free from mysticism, in our sense of the term, than the old Romans.

—James H. Leuba

(The Psychology of Religious Mysticism).

जनक राजा की सभा में जा कर लोगों से पूरा शास्त्रार्थ करते हैं, और खंडन-मंडन के उपरान्त ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं। यह सब तत्त्वचिन्तन (Rationalism) का मार्ग है, दर्शन-शास्त्र की पद्धति है, 'रहस्यवाद' नहीं। ऋषियों की इसी परंपरा का अनुसरण कर, वादरायण ने ब्रह्मसूत्रों की रचना की। जिनमें वादरि, काशकृत्स्न, औडुलोमि इत्यादि के भिन्न भिन्न मतो का भी उल्लेख है। 'रहस्यवाद' का मूल मंत्र है 'अज्ञात की उपासना'। उपनिषदों का मूल मंत्र है स्वरूप-बोध के सहित उपासना। उपनिपदों के पूर्व यज्ञादि कर्मकांड के द्वारा जो 'पूजा' होती थी वह पूज्य के स्वरूप-बोध के साथ नहीं होती थी—उसमें पूज्य का वास्तविक ब्रह्म-स्वरूप ज्ञान या विद्या द्वारा प्रतिष्ठित नही रहा करता था। इसलिए केवल ऐसी उपासना उपनिपदों में अविद्या की उपासना कही गई, जिसके सम्बन्ध में ईशोपनिपद् में कहा गया है कि

अन्धतमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।

जो अविद्या की उपासना करते हैं वे गहरे अन्धकार में पड़े रहते हैं। इस प्रकार हमारे यहाँ आरम्भ में ही केवल 'अज्ञात की उपासना' का, 'रहस्यवाद' का, निषेध कर दिया गया।

भारतवर्ष में भक्तिमार्ग का विकास किस प्रकार हुआ यह हम दिखा आए हैं। उसका तात्त्विक आधार कहीं बाहर से नहीं लिया गया। 'पूजा' की भूमि के उपरान्त जब तत्त्वचिन्तन द्वारा ब्रह्म के स्वरूप की प्रतिष्ठा हुई तब साथ ही उसके उभया-

त्मक स्वरूप को ले कर 'उपासना' की भूमि तैयार हुई। इसी 'उपासना' से आगे चल कर प्रेम-प्रधान भक्ति का प्रवर्त्तन हुआ। अतः इस भक्ति के तात्त्विक आधार का जहाँ तक सम्बन्ध है वहाँ तक रहस्यवाद का कहीं नाम नहीं है। रहस्यवादी यह प्रकट करता है कि 'ज्ञात से मुझसे कोई प्रयोजन नहीं, मैं तो सीधे अज्ञात में जा कर रमता हूँ'। शुद्ध भक्त साफ कहता है कि 'अज्ञात में कोई हृदय रमा ही नहीं सकता; मैं ज्ञात में हृदय रमाता हूँ पर इस बात की भावना रखता हुआ कि जितना मुझे ज्ञात है वह उतना ही नहीं है—वह उसके आगे अनन्त और असीम है'। 'अज्ञात की उपासना' कहने से यह ध्वनि निकलती है कि उपासक 'अज्ञात' को भी जानता है। पर इस प्रकार के ज्ञान-रहस्य का हमारे यहाँ की भक्ति में कोई स्थान नहीं है।

उसी भक्तिमार्ग को हम 'रहस्यवाद' का पर्य्याय कह सकते हैं जिसमें प्रेम के आलंबन का स्वरूप बिल्कुल आरोपित हो, तत्त्वचिन्तन द्वारा प्रतिष्ठित न हो। अब हम इस दृष्टि से विचार करते हैं कि भारतीय भक्तिमार्ग को रहस्यवाद कहना कहाँ तक ठीक है। यह हम दिखा आए हैं कि भागवत धर्म में भक्ति के लिए ब्रह्म का जो 'नारायण' स्वरूप लिया गया उसका उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में है। 'नारायण' का अभिप्राय है ब्रह्म का वह स्वरूप जो नर-प्रकृति का अनुरंजन-कारी हो। कार्य्य-लक्षण लेने पर वह स्वरूप रक्षक और पालक का ठहराया गया। रक्षक और पालक स्वरूप किस प्रकार नित्य और सत् है, यह

सिद्ध किया जा चुका है। यह आरोपित स्वरूप नहीं है, तत्त्वतः ज्ञात स्वरूप है।

ज्ञान द्वारा प्रदत्त उक्त स्वरूप का आधार पा कर तब भाव-क्षेत्र में प्रवेश हुआ है। जैसा कि पहले दिखाया जा चुका है इसी भावक्षेत्र में 'रहस्य' का प्रकृत उपयोग है। नर-प्रकृति का अनुरंजन करनेवाला ब्रह्म का जो पालक और रक्षक स्वरूप कार्य्य-लक्षण द्वारा प्राप्त हुआ वह सार्वभौम स्वरूप था—वह मनुष्य मात्र के लिए था। किसी जाति विशेष या व्यक्ति विशेष से उसका सम्बन्ध नहीं। इसके उपरान्त आलंबन के स्वरूप की पूर्णता के लिए जब प्रेम-भाव आकार-भावना की ओर बढ़ा तब 'रहस्य' का समावेश हुआ। नारायण में परम सुन्दर चतुर्भुज स्वरूप का आरोप किया गया; श्वेतद्वीप उनका एक अलग लोक माना गया। भगवान् के विग्रह की ऐसी प्रतिष्ठा का सम्बन्ध जातीय या व्यक्तिगत रुचि से है। अतः किसी समुदाय विशेष या व्यक्ति विशेष की भावना को ग्राह्य 'विग्रह' की प्रतिष्ठा अवश्य रहस्य की बात है। प्रेम-मार्ग में आगे और बढ़ने पर आलंबन के स्वरूप को निर्दिष्ट और हृदयग्राह्य तथा निकटस्थ करने के लिए नारायण का दर्शन इसी लोक में और नर-रूप में किया गया। इसी पद्धति से भगवान् वासुदेव या श्रीकृष्ण भक्ति या प्रेम के निर्दिष्ट आलंबन हुए। आरम्भ में भगवान् के इस विग्रह की भावना एक विशेष जनसमुदाय के बीच स्फुरित हुई इसी से भागवत धर्म को सात्वत धर्म कहते थे।

किसी विशेष जनसमुदाय या व्यक्ति के भीतर स्फुरित स्वरूप-भावना का ही नाम हमारे यहाँ 'रहस्य' है। 'रहस्य' का अर्थ है किसी का निजी या प्राइवेट (Private)। वासुदेवोपासना को जो महाभारत में कहीं कहीं 'रहस्य', 'राजगुह्य' आदि कहा है, उसका बस इतना ही मतलब है। पर कुरुक्षेत्र युद्ध के उपरान्त इस उपासना का गुह्यत्व या रहस्यत्व नहीं रह गया। गहरे प्रेम के लिए उपास्य का यही लोकप्रचलित स्वरूप हुआ। भगवान् कृष्ण में जिन जिन लोगों ने पहले पहल ईश्वर का साक्षात्कार किया उन लोगों तक तो उनकी ईश्वरता एक रहस्य-भावना के रूप में रही। पर उसके आगे जब वह लोकग्राह्य हुई तब भक्तिमार्ग में उसके रहस्यत्व का परिहार हो गया। भागवत ने भक्तों को भक्ति का यही रहस्य-विमुक्त मार्ग—सीधा राजपथ—दिखाया, जैसा कि सूरदास जी ने कहा है—

काहे को रोकत मारग सूधो।

सुनि ऊधो! निर्गुन-कंटक ते राजपंथ क्यों रूँधो।

इस मार्ग का बिल्कुल सीधा-सादा होना ही इसकी विशेषता है। इसमें रहस्य, दुराव, छिपाव इत्यादि नहीं—न उपासक की ओर, न उपास्य की ओर।

गीता द्वारा उपासना के क्षेत्र में जिस तथ्य का प्रकाश हुआ उसकी ओर हमारे देखने में कम ध्यान दिया गया है। श्रीकृष्ण ने कहा है कि इस जगत् में जो कुछ 'श्रीमत्' और 'ऊर्जित' दिखाई पड़े उसमें मुझे समझो। इसका अर्थ कहाँ तक जाता

है, यह विचारना चाहिए। इस वचन में इस बात का संकेत है कि उपास्य को बिल्कुल परोक्ष रख कर उपासना करने की आवश्यकता नहीं। यह जगत् ब्रह्म से भिन्न नहीं है अतः इसी में उपासना और भक्ति करने के लिए भगवान् की प्रत्यक्ष कला मिल जायगी। आगे चल कर भागवत में हम इसी तथ्य का स्पष्टीकरण पाते हैं। व्रज के गोप इन्द्र की पूजा किया करते थे। श्रीकृष्ण ने नन्द से कहा कि इससे अच्छा तो यह है कि हम इस पर्वत (गोवर्द्धन) की पूजा करे, गायो की पूजा करे, ब्राह्मणों की पूजा करे। जो साक्षात् या सीधे पालन पोषण आदि करता दिखाई दे वही देवता है—

तस्मात्संपूजयेत्कर्म स्वभावस्थः स्वकर्मकृत्।
अंजसा येन वर्त्तेत तदेवास्य हि दैवतम्।
तस्माद्गवां ब्राह्मणानामद्रेश्चारभ्यतां मखः।
य इन्द्रयागसम्भारास्तैरयं साध्यतां मख.।

—भागवत १०–२४—२३–२४

यही 'अंजस पूजा'—साक्षात् रक्षक, साक्षात् पालक और साक्षात् रंजक की पूजा—हमारी भक्ति-भावना का प्रधान लक्षण है। विना इस 'अंजस पूजा' के हृदय का परिष्कार और शुद्धि कदापि नही हो सकती। यदि किसी पर्वत से, किसी नदी से, किसी वृक्ष से, किसी पशु से—प्रकृति के छोटे बड़े किसी पदार्थ से—लोक का उपकार है तो उसमें जो हमारी पूज्य-बुद्धि होगी वह भगवान् ही के प्रति समझनी चाहिए। जिस व्यक्ति

या वस्तु से लोक का कल्याण और रंजन होता है, हमें समझना चाहिए कि उस व्यक्ति या वस्तु के रूप में भगवान् ही हमारा कल्याण और रंजन कर रहे हैं। इस प्रकार के प्रत्यक्ष रूपों के प्रति पूज्य-बुद्धि हमारे धर्म की वह हृदय-वृत्ति है जो उसे उन सामी (पैग़ंबरी) मज़हबों से अलग करती है जो ऐसे प्रत्यक्ष रूपों के प्रति पूज्य भाव रखना पाप कहते हैं।

'पूजा' से आगे 'उपासना' और 'भक्ति' के लिए भी इसी 'अंजस मार्ग', सीधे मार्ग, का अवलंबन हमारे यहाँ हुआ। उपास्य को अज्ञात रख कर उपासना करने की पद्धति को, 'अविद्योपासना' की पद्धति को, हटाने का प्रयत्न तो उपनिषदों ने किया। उसी विचार-सूत्र को पकड़े हुए और आगे बढ़ कर भक्तिमार्ग में 'परोक्षता' का भी परिहार किया गया और प्रेमलक्षणा भक्ति के लिए भगवान् की पूर्ण प्रत्यक्ष कला के अधिष्ठान अवतार लिए गए। पाश्चात्य भक्तिमार्ग 'अज्ञात के प्रेम' के कारण शुद्ध प्रेममार्ग न रह कर 'रहस्यवाद' हो गया।

भगवान् के अवतार श्रीकृष्ण का इसी भूलोक पर एक निर्दिष्ट व्यक्तित्व है जिसके मधुर पक्ष का पूर्ण प्रकाश भागवत ने किया। श्रीकृष्ण की बाललीला और प्रेमलीला का बहुत ही स्वाभाविक और चित्ताकर्षक वर्णन उक्त पुराण में पाया जाता है। उसी निर्दिष्ट लीला को ले कर भक्त लोग प्रेममग्न हुआ करते हैं— अज्ञात की अनिर्दिष्ट भावना को ले कर नहीं। भारतीय भक्ति-मार्ग (सगुण) के भक्त भगवान् को मनुष्य के जीवन-क्षेत्र में

रख कर उनकी प्राकृत नरलीला में—उनकी शैशव क्रीड़ा में; उनकी नटखटी में, उनके चरम सौन्दर्य्य और गोपियों के चित्ताकर्षण में, उनके गोचारण में, उनके वेणुवादन में—अपना हृदय रमाया करते हैं। यही उनके हृदय की स्थायी वृत्ति है; रहस्य-भावना नहीं। हाँ! उनकी वृत्ति बीच बीच में कभी रहस्योन्मुख भी हो जाती है। जैसे, बालकृष्ण के मिट्टी खाने पर जब यशोदा उनका मुहँ खुलवाती हैं तब उसके भीतर अखिल विश्व का प्रसार देख वे स्तम्भित हो जाती हैं। इसी प्रकार रहस्योन्मुख हो कर वे प्राकृत नरलीला का वर्णन करते करते इस बात की ओर भी संकेत कर देते हैं कि ये वही हैं जो अव्यक्त, अनादि, अप्रमेय और त्रिगुणातीत है, इस त्रिगुणातीत की भावना भी जोड़ लेने से उनकी सगुण भावना में कुछ भी बाधा नहीं पड़ती। प्रेम-मयी गोपिकाएँ उद्धव से कहती हैं कि वे त्रिगुणातीत भी हैं, इससे क्या—

सूर इते पै गारि कहा है जौ पै त्रिगुण-अतीत।

पर, जैसा कि ऊपर कहा गया, यह रहस्य-कुतूहल भक्त के हृदय की स्थायी वृत्ति नहीं। इसका केवल बीच बीच में संचरण हुआ करता है। भक्त जो अपना हृदय निछावर किए रहता है वह भगवान् की व्यक्त स्वाभाविक नरलीला पर। वह प्रकृति को, भगवान् की योगमाया को, उनसे अलग नहीं करता। भगवान् के जिस नर-स्वरूप और नरलीला में भक्त अपना हृदय लीन रखता है उसकी नित्यता उसका नित्य अभिलाष है। उस

स्वरूप और लीला के नित्य अवस्थान के लिए वह गोलोक, साकेत आदि की भावना करता है। गोलोक में वही वृन्दावन, वही यमुना, वही वंशीवट, वही कृष्ण, वही राधा, वही सब कुछ नित्य स्वरूप में रहता है। नित्यता की यह रहस्य-भावना भी भाव-प्रेरित है। जो स्वरूप और जो लीला भक्त के हृदय का एकमात्र आधार है उसके बिना न तो इस पार्थिव जीवन में उसके लिए कुछ तत्त्व है और न पर-जीवन में। उस आधार के बिना अपना कहीं होना वह एक क्षण के लिए भी नहीं सह सकता। भगवान् की उक्त नित्य-लीला-सृष्टि में प्रवेश ही भक्त का चरम लक्ष्य है; किसी अज्ञात निर्विशेष (Absolute) दशा की प्राप्ति नहीं।

भावक्षेत्र की जो थोड़ी बहुत रहस्य-भावना ऊपर दिखाई गई वह पाश्चात्यों के रहस्यवाद (Mysticism) का प्रधान लक्षण नहीं है। 'रहस्यवाद' की सब से पहली बात है अज्ञात निर्विशेष परम सत्ता के साथ समागम और संलाप, सीधे जिसके द्वारा भक्त या साधक को लोकोत्तर या पारमार्थिक ज्ञान की उपलब्धि होती है। हमारे भक्तिमार्ग में इस बात का कहीं नाम नहीं है। ज्ञानोपलब्धि का यह मार्ग हमारे यहाँ स्वीकृत ही नहीं है। रहस्यवाद का तात्त्विक विवेचन करनेवाले पाश्चात्य विद्वानों ने भी रहस्यमार्गी (Mystic) भक्तों के कथनों में जिन्हें लोग 'ईश्वर-प्रेरित सन्देश', 'रहस्य-वार्त्ता', 'परोक्ष की वाणी' इत्यादि न जाने क्या क्या कहा करते हैं—किसी प्रकार के नए ज्ञान की उपलब्धि नहीं मानी है। विलक्षण शब्दजाल को हटा कर

परीक्षा करने पर उनमें धर्म और ज्ञान की वे ही सामान्य बातें पाई जाती हैं जिनके क्रमशः विकास का खुला इतिहास है *।

रहस्यमार्गी भक्तों की उक्तियों में जो वैलक्षण्य या अनूठा रूपक-जाल रहता है उसका भी साम्प्रदायिक कारण और

---

* It is not necessary to conclude that 'oracular communication' or mysterious information, or ideas with novelty of content come into the world through the secret door of mystical openings. 'Ideas' and 'communications' and 'information' prove always, when they are examined, to have a historical back-ground. They show the marks of group-experience and they do not drop ready-made into the world from some other region.

Rufus. M. Jones.

(Encyclopaedia of Religion & Ethics)

जेम्स ल्यूबा (James Leuba) का भी यही मत है—In trance the impression of exactness & fullness of perception is an illusion. It must be emphasized that however convincing the experience, the nature of the presence remained extremely vague.

—The Psychology of Religious Mysticism.

इतिहास है। ईसवी सन् ६०४ में संत ग्रेगरी (St. Greogory the Great) नामक एक प्रसिद्ध महात्मा हो गए हैं। उन्होंने ध्यान में ईश्वर का जो साक्षात्कार होता है उसके सम्बन्ध में कहा है कि साधक ईश्वर को ठीक वैसा ही नहीं देखता जैसा वह परमार्थतः है, बल्कि उसका कनिष्ठ रूप देखता है। हमारे भीतर कल्मष का जो अन्धकार रहता है वह उस शुद्ध ज्योति को ठीक ठीक हम तक पहुँचने नहीं देता। हम उसे साफ साफ नहीं देख सकते, वैसे ही देख सकते हैं जैसे बहुत दूर की वस्तु कुछ धुँधली सी दिखाई पड़ती है। इसके उपरान्त ईसा की बारहवीं शताब्दी में संत बरनार्ड (St. Bernard) ने यह बताया कि रहस्यमार्गी को 'हाल' या आवेश की दशा में आध्यात्मिक ज्ञान की उपलब्धि किस ढंग से होती है। उन्होंने कहा कि "जब साधक के हृदय-देश में ईश्वर की भेजी हुई ज्योति की किरन झलक की तरह क्षण मात्र के लिए आ जाती है तब, या तो उस परम तेज की चकाचौंध कम करने के लिए अथवा उसके द्वारा प्रकाशित ज्ञान को दूसरों तक कुछ पहुँचाने योग्य बनाने के लिए, उस प्रेषित ज्ञान या तथ्य को व्यंजित करने के उपयुक्त पार्थिव जगत् का कुछ अनूठा रूप-विधान (रूपक) सामने आ जाता है"। छलावा की तरह आए हुए इस रूपक को 'छाया-दृश्य' (Phantasmata) कहते हैं *।

* When something from God has momentarily and, as it were, with the swiftness of a flash of light, shed its

इसी 'छाया-दृश्य' के लक्षणों का अनुसरण सामी (Semitic) मजहबों के भीतर चले हुए भक्ति के रहस्यमार्गों में पाया जाता है। सूफियों में इसी परंपरा का निर्वाह शराव, प्याले आदि के रूपकों में मिलता है जो एक प्रकार के प्रतीक (Symbols) से हो गए हैं। निर्गुण-पंथ की बानियों में—विशेषतः कबीरदास की बानी मे—जो वेदान्त आदि की बातों को ले कर पहेली के ढंग के रूपक बाँधने की प्रवृत्ति पाई जाती है वह भी इसी रूढ़ि का निर्वाह है। ब्लेक (Blake) ने कल्पना को जो ईश्वर का दिव्य साक्षात्कार बताया उसका भी यही साम्प्रदायिक मूल है। ईसाई भक्तिमार्ग के इस छाया-दृश्य (Phantasmata) वाले सिद्धान्त का प्रभाव योरप के काव्यक्षेत्र पर भी पड़ा। सन् १८८५ में 'प्रतीकवादियों' (Symbolists or Decadents) ने कविता का जो ढंग पकड़ा था उसमें उक्त 'छाया-दृश्य' वाले सिद्धान्त का

---

ray upon the mind in ecstasy of spirit, immediately, whether for the tempering of this too great radiance, or for the sake of imparting it to others, there present themselves certain imaginary likenesses of lower things, suited to the meanings which have been infused from above, by means of which that most pure and brilliant ray is in a manner shaded, and both becomes more bearable to the soul itself and more capable of being communicated.

पूरा अनुसरण था इसी से जब उक्त 'प्रतीकवाद' का ढंग बंगाल मे ब्रह्मसमाज के भजनों में दिखाई दिया तब उसी 'छाया-दृश्य' (Phantasmata) के सिद्धान्त की दृष्टि से उस ढंग की रचनाओं को 'छायावाद' कहने लगे। इस वर्ग की कविताओं मे साध्यवसान रूपकों का ही जो प्राचुर्य्य देखा जाता है, बहुत धुँधले साम्य के बल पर गृहीत तथा कुछ असम्बद्धता के साथ विन्यस्त मधुर और रमणीय अप्रस्तुत रूपों के जो आभास पर आभास दिखाए जाते हैं वे इसी छाया-दृश्य की सी प्रतीति उत्पन्न करने के लिए। बँगला से होता हुआ यह छायावाद हिन्दी मे भी आया है। उसके द्वारा हिन्दी के काव्यक्षेत्र मे दो बातों का समावेश बड़ी प्रचुरता के साथ—हद से ज्यादा भी कह सकते हैं—हुआ है—स्वप्नाभास कल्पना (Fantasy) का और लाक्षणिक वक्रोक्ति का।

जेम्स (William James) ने रहस्यानुभूति की दशा के चार लक्षण बताए हैं—

(१) अनिर्वचनीयता (Ineffability),

(२) ज्ञानोदय (Noetic quality),

(३) क्षणिकता (Transiency) और

(४) निश्चेष्टता (Passivity)।

अब यह देखिए कि भारतीय (सगुणमार्गी) भक्त की भावमग्नता में ये बातें कहाँ तक पाई जाती हैं। यह हम कह आए हैं कि भक्त की भावानुभूति की दशा वही है जिसे काव्य में रस-दशा

कहते हैं। हमारे यहाँ भक्तिमार्ग में भक्त के आनन्द को स्पष्ट शब्दों में 'भक्ति-रस' कहा है। रस की अनुभूति एक प्राकृतिक और स्वाभाविक अनुभूति है जो किसी प्रकार के उत्कृष्ट काव्य द्वारा भी हो सकती है। उसी प्रकार की अनुभूति भक्त की भी मानी गई है। पर रहस्यवादी की ईश्वर-समागम-वाली दशा चित्त-विक्षेप के रूप में मानी जाती है—जैसी किसी भूत या देवता के सिर आने पर होती है। इस दशा पर आस्था किसी प्राचीन दशा का संस्कार है जो किसी न किसी रूप में अब तक चला चलता है। उसी के कारण जैसा भूत-प्रेत, कुलदेवता आदि का सिर पर आना वैसा ही यह ईश्वर का सिर पर आना भी समझा जाता है। हमारे यहाँ के भक्तिमार्ग में यह बिल्कुल नहीं है। आज तक किसी भक्त महात्मा के सिर पर राम कृष्ण नही आए। हाँ! हनुमान् जी अलबत कभी कभी भक्तमंडली से उछल कर किसी किसी के सिर आ जाया करते हैं। रसानुभूति का आनन्द अनिर्वचनीय कहा गया है, अतः भक्तिरस की चरमानुभूति भी अनिर्वचनीय कही जाती है। पर इस अनिर्वचनीयता का यह अर्थ कभी नही समझा जाता कि किसी अलौकिक तथ्य का ज्ञान प्राप्त करना उसे बता न सकना। भक्ति की रस-मग्नता में किसी प्रकार का ज्ञानोदय नही माना जाता, यह हम अच्छी तरह दिखा आए हैं। भक्तिरस की दशा के लिए आवश्यक नहीं कि वह क्षणिक ही हो। श्रवण और कीर्त्तन के समय की मग्नता कुछ देर तक रहती है। ध्यान में उपास्य स्वरूप

का जो साक्षात्कार होगा वह अलबत थोड़ी ही देर के लिए होगा। किसी भाव के रस-रूप में उमड़ने पर बुद्धि और शरीर दोनो की क्रियाएँ कुछ देर के लिए रुक जाती हैं, पर यह कोई अलौकिक और अप्राकृतिक दशा नहीं। सारांश यह कि रसदशा और देवी-देवता के आवेश की दशा में कुछ बाहरी लक्षणों का साम्य देख दोनो को एक ही समझने की भूल न करनी चाहिए। भक्त भी सब सुध-बुध खो कर अपने भाव में लीन कभी कभी उन्मत्त और गूँगा बहरा सा घूमता दिखाई पड़ता है। परम विरागी और भक्त शुकदेव जी इसी रूप में कुरुजांगल प्रदेश में घूमते हुए कहे गए हैं—

कथमालक्षितः पौरैः सम्प्राप्तः कुरुजांगलान्।
उन्मत्त-मूकजडवद्विचरन् गजसाह्वये।

(भागवत १–४–६)।

पर उनकी यह दशा देवोन्माद नहीं थी, प्रेम की रसलीनता थी।

भक्त आचार्य्यों में चैतन्य महाप्रभु अलबत नृत्य-कीर्त्तन करते करते मूर्छित होते हुए सुने जाते हैं। इसे वंग देश का भावावेश समझना चाहिए। उस भावावेश की दशा का जो वृत्त प्रचलित हुआ उसे सूफियों के 'हाल' की दशा का स्वरूप बहुत कुछ उस समय की परिस्थिति के कारण प्राप्त हुआ। फकीरों की सिद्धि आदि के विश्वास के सहारे पठानों के समय में सूफी संस्कार के प्रचार का बड़ा भारी आयोजन सारे उत्तरीय भारत में रहा। अजमेर, जौनपुर, मूँसी, ऊँजी, सहसराम इत्यादि में सूफी पीरों के

प्रसिद्ध स्थान थे। बंगाल में 'हुसैनशाह' ने 'सत्यपीर' की उपासना चलाई थी। निर्गुण भक्ति-पंथों का प्रचार इसी परिस्थिति में हुआ।

पहले कह आए हैं कि हमारे भक्तिमार्ग में जो कृष्णोपासना चली आ रही है वह भागवत दशम स्कंध के पूर्वार्द्ध में प्रकाशित बालकृष्ण और गोपियों के प्रियतम प्रेममूर्त्ति कृष्ण को ले कर। भागवत दशम स्कंध के उत्तरार्द्ध में जो कृष्ण-चरित्र है—जिसमें रुक्मिणी, सत्यभामा इत्यादि के साथ विवाह और द्वारका में विहार तथा जरासन्ध-वध, राजाओं के उद्धार इत्यादि का वर्णन है—वह उपासना के लिए नहीं लिया गया। लोक और वेद के ऊपर प्रेम की प्रतिष्ठा ही कृष्णोपासक भक्तों की 'प्रेम-लक्षणा भक्ति' का सिद्धान्त हुआ। गोपियों का एकान्त प्रेम इसी रूप में देखा गया है। उसकी कहीं किसी ओर कोई सीमा नहीं रखी गई है। वह लोक और वेद दोनो की मर्य्यादाओं के परे है। श्रीकृष्ण के मधुर स्वरूप का आकर्पण ही उसका एकमात्र कारण और उस स्वरूप के अधिक से अधिक सान्निध्य का अभिलाष उसका लक्षण है। गोपियो का प्रेम दाम्पत्य-प्रेम के रूप में होने के कारण अभिलषित सान्निध्य भी स्त्री-पुरुष-समागम के रूप में, आलिंगन के रूप में, ही वर्णन किया गया है। प्रियतम के रूप मे भगवान् की भावना को 'माधुर्य्य भाव' और उनके प्रति प्रेमानुभूति को 'मधुर रस' कहते हैं। स्त्री-पुरुष का प्रेम सब से प्रबल और अन्तर्व्यापक

होता है और उसमें आलंबन के साथ सब से अधिक गूढ़ और घनिष्ठ समागम की लालसा होती है, इससे इस 'माधुर्य्य भाव' का समावेश कई देशों की भक्तिपद्धति में किया गया। मीराबाई की 'माधुर्य्य भाव' की उपासना प्रसिद्ध ही है। इस उपासना को बड़ी भद्दी हद तक पहुँचा कर कई प्रकार के 'सखी-सम्प्रदाय' वैष्णवों में चले। सूफियों का माधुर्य्य भाव प्रसिद्ध ही है। ईसाइयों के रहस्यमार्ग (भक्तिमार्ग) में भी कैथलिक सम्प्रदाय के बीच इस 'माधुर्य्य भाव' का पूरा प्रचार था और अब भी किसी न किसी रूप में है।

ईसाइयों की धर्मपुस्तक में एक जगह आया है कि "जिस प्रकार दूल्हा दुलहिन के साथ रमण करता है, उसी प्रकार ईश्वर तुझमें रमण करे"। इसी को ले कर 'स्वर्गीय दूल्हा' (Heavenly Bridegroom) की भावना प्रवर्द्धित हुई। जिस प्रकार हमारे यहाँ के हठयोगियों ने मनुष्य के भीतर चक्रों, कमलों, मणिपूर इत्यादि की कल्पना की है उसी प्रकार साधक ईसाइयों ने उस स्वर्गीय दूल्हे के साथ विहार करने के लिए या अन्तर्देश में कई प्रकार के रंगमहल या कोठरियाँ कायम की थीं। ईसा की १२वी शताब्दी के मध्यभाग में सेंट बरनार्ड (St. Bernard) नामक एक प्रसिद्ध भक्त या सन्त हो गए हैं जिन्होंने दूल्हे के 'तीसरे कक्ष' में प्रवेश का इस प्रकार वर्णन किया है—

"यद्यपि वे (ईश्वर) कई बार मेरे भीतर आए पर मैंने न जाना कि वे कब आए। आ जाने पर मुझे कभी कभी उनकी आहट

मिली है; उनके विद्यमान होने का स्मरण भी मुझे है; वे आने-वाले हैं, इसका आभास भी कभी कभी मुझे पहले से मिला है; पर वे कब भीतर आए और कब बाहर गए, इसका पता मुझे कभी न चला"। ईसाई रहस्यमार्ग (भक्तिमार्ग) में सेंट थेरेसा (St. Theresa) ईसा की १६वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में बहुत प्रसिद्ध हुई है जिन्होंने उस मार्ग की बहुत सी पुस्तकें लिखी हैं। उन्होंने अपनी पुस्तक 'आध्यात्मिक महल' (The Spiritual Castle) में योग की भूमियों के समान सात खंड स्थिर किए हैं जिनमें साधक क्रमशः पहुँचता है।

दाम्पत्य-वासना (Sexual instinct) का भक्ति की साधना में जो व्यवहार किया गया उसमें विशिष्ट इन्द्रियाँ भी उत्तेजित हो कर योग देती हैं या नहीं, यह प्रश्न स्वभावतः उठता है। कृष्णो-पासना के क्षेत्र में यदि इस प्रश्न पर हम विचार करते हैं तो दो पक्ष मिलते हैं—लीलापक्ष और ध्यानपक्ष। लीलापक्ष में तो स्पष्ट है कि गोपियाँ कामिनी के रूप में श्रीकृष्ण से प्रेम करती थीं और काम-वासना की तृप्ति के रूप में ही उस प्रेम की तृप्ति प्राप्त करतीं और चाहती थीं। ध्यानपक्ष में यह प्रश्न उपस्थित होता है, पर उतने कठिन रूप में नहीं। जब श्रीकृष्ण और गोपि-काओं का इस भूमंडल पर प्रियतम और प्रेमिका का रूप निर्दिष्ट है तब स्त्री यदि माधुर्य्य भाव से उपासना करेगी तो वह अपने को गोपिका रूप में रख कर शृंगार के आनन्द का अनुभव काव्य की रसानुभूति के ढंग पर कर सकती है। पर जहाँ पुरुष उक्त भाव

से ध्यान करेगा वहाँ शृंगार आलंकारिक आरोप मात्र रहेगा। सूफियों और ईसाई भक्तों के माधुर्य्य भाव के सम्बन्ध में उक्त प्रश्न थोड़ा कठिन हो जाता है। वहाँ केवल ध्यानपक्ष है; वह भी निराकार ईश्वर का। अतः पति या दूल्हे के रूप का मूल में ही आरोप करना पड़ेगा। पुरुष उपासक के ध्यान में तो वह रूप केवल आरोपित रहेगा। पर स्त्री के ध्यान में कभी कभी ऐसा हो सकता है कि आरोप की भावना हट जाय और वह पुरुष के आलिंगन की कल्पना के आनन्द में मग्न हो जाय *।

---

* जेम्स ल्यूबा (James H. Leuba) अपनी पुस्तक The Psychology of Religious Mysticism में इस सम्बन्ध में लिखते हैं—

Jesus or the Virgin were not to them simple ideas; they acquired at times, in particular during the ecstasy, the concreteness of a bodily presence. × × × Even the most chaste thoughts of love, those of the mother for her infant and the pressing of it to her breast, awaken the activity of the sexual organism. × × × × ×

They also make upon God or the Virgin a 'stormy' demand for love; they also wish to be lovers or mistresses; and even though they have no thought other than that of an ideal platonic loves never the less their sexual organism participates in the intercourse.

यहाँ पर कृष्णोपासक भक्तों के 'माधुर्य्य भाव' में और सूफियों तथा रहस्यमार्गी ईसाई भक्तों के 'माधुर्य्य भाव' में जो भेद है उसे समझ लेना चाहिए। कृष्णभक्ति-मार्ग में जो कृष्ण लिए गए हैं वे वास्तव में शृंगार के आलंबन थे, पर पैग़ंबरी मज़हबों के भक्तिमार्ग में खुदा को प्रियतम या माशूक का जो रूप दिया गया है, वह आरोप मात्र है—अज्ञात के प्रति रहस्य-भावना या कल्पना मात्र है। सारांश यह कि सूफियों और ईसाई भक्तों में माधुर्य्य भाव रहस्यवाद का एक अंग है, पर कृष्णोपासकों में वह भगवान् की विज्ञात नरलीला का एक अंग है। दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि कृष्णोपासकों में माधुर्य्य भाव से उपासना सर्वत्र नही है—कहीं वात्सल्य भाव है, कही सख्य भाव, कही सेव्य-सेवक भाव। उनके श्रवण, कीर्त्तन और ध्यान में जो मधुर रस है वह लीला-रस है। अर्थात् भक्त लोग राधा और कृष्ण के परस्पर प्रेम की भावना द्वारा मधुर रस में लीन होते हैं—ठीक उसी प्रकार जैसे किसी काव्य में नायक नायिका के प्रेम-व्यापार को पढ़ सुन कर पाठक या श्रोता शृंगार रस में मग्न होता है।

भारतीय भक्ति का जो शुद्ध स्वरूप हम निरूपित कर आए है और उसके विकास का जो संक्षिप्त विवरण दे चुके हैं उससे स्पष्ट हो गया होगा कि भारतीय भक्तिमार्ग को 'रहस्यवाद' कहना ठीक नही। भाव की उपलब्धि और उत्कर्ष के लिए यत्र तत्र उसमें रहस्य-भावना का उपयोग होता आया है; पर

'रहस्य' उसकी कोई स्थायी वृत्ति या नित्य लक्षण नहीं है। जिसमें ज्ञानोपलब्धि के साधन के रूप में रहस्य का समावेश न हो वह मार्ग 'रहस्यवाद' नहीं कहला सकता। हमारे यहाँ रहस्यवाद योग है जिससे भक्तिमार्ग अलग है। कुछ सगुण-मार्गी सम्प्रदायों ने जो प्राणायाम या श्वास की कुछ साधना ध्यान और जप के लिए इधर उधर ले ली है, वह एक ऊपरी वस्तु है। भक्ति की साधना की वही शुद्ध, मुख्य और प्राचीन पद्धति है जिसे 'नवधा' (श्रवण, कीर्त्तन इत्यादि) भक्ति कहते हैं। इनमें से श्रवण और कीर्त्तन भक्ति की प्राप्ति, भक्ति के दृढ़ीकरण और भक्ति के प्रचार, तीनो के साधन हैं।

यह हम कह चुके हैं कि हमारे यहाँ का भक्तिमार्ग भगवान् को अनन्त शक्ति, शील और सौन्दर्य्य के अधिष्ठान-रूप में इसी जगत् के व्यवहार के बीच रख कर चला है। अतः अत्यन्त अन्तर्व्यापक और गहरे प्रेमवाली भक्ति के लिए राम और कृष्ण ये दो मुख्य अवतार ही लिए गए हैं। रामोपासक भक्त-सम्प्रदाय तो उक्त तीनो विभूतियों—शक्ति, शील और सौन्दर्य्य—से समन्वित 'राम' में अपने हृदय को लीन करते आए हैं। पर भागवत के पीछे जो बहुत से कृष्णोपासक सम्प्रदाय चले उन्होंने वात्सल्य और शृंगार के आलंबन-रूप में ही श्रीकृष्ण को लिया है। श्रीकृष्ण की गोपिका-वल्लभ प्रेममूर्त्ति ही प्रेमाराधन के उपयुक्त उन्हें दिखाई पड़ी है। यद्यपि राम के समान कृष्ण भी लोककंटक अत्याचारियों का पराभव कर धर्म की शक्ति और

सौन्दर्य्य का प्रकाश करने के लिए नर-रूप में आविर्भूत कहे गए है पर कृष्णोपासक भक्तों ने इस लोकपक्ष को छोड़ दिया है। महाभारत में जो दिव्य शक्ति भारत के सब से प्रतापी और अत्याचारी सम्राट् जरासन्ध को लोकमार्ग से हटाती है, अधर्म में रत कौरवो के पराभव द्वारा धर्म की विजय-घोषणा करती है— सुख-वैभव के रंग में रँगी अधर्म की लीक मिटा कर धर्म की जगमगाती गहरी लीक खीचती दिखाई पड़ती है—उस दिव्य शक्ति के रूप में श्रीकृष्ण भक्तो के हृदय मे नहीं प्रतिष्ठित किए गए। भागवत कृष्णोपासक भक्तों का सर्वमान्य ग्रन्थ है जिसके दशम स्कंध में श्रीकृष्ण का चरित बड़े विस्तार के साथ वर्णित है। पर श्रवण और कीर्त्तन के लिए दशम स्कंध के पूर्वार्ध ही की, अर्थात् व्रज के भीतर ही की, लीला ली गई है। कृष्णोपासक भक्त और कवि कुछ तो कृष्ण की बाललीला, पर अधिकतर गोपियो के साथ उनकी प्रेमलीला ही वर्णन करते पाए जाते हैं। तात्पर्य्य यह कि भगवान् के रक्षक, पालक और रंजक रूपों में से उन्होंनें रंजक रूप ही छाँट लिया है। पर रामोपासक भक्तों का हृदय भगवान् के तीनो रूपो की ओर आकर्षित रहता है। अत. आगे हम भारतीय भक्ति के सम्वन्ध में जो कुछ कहेंगे वह उसकें सामान्य स्वरूप को सामने रख कर कहेंगे।

वैष्णव भक्तिमार्ग में सब से पहली बात ध्यान देने की यह है कि उसमें राम और कृष्ण उपदेशक के रूप में कही नहीं लिए गए हैं। कृष्णभगवान् ने गीता का परमोपदेश किया, पर भक्तों के

कृष्ण गीता का उपदेश देनेवाले कृष्ण नहीं हैं। इसी प्रकार राम भी कोई शब्द-सन्देश लानेवाले नहीं माने जाते। यद्यपि कुछ लोग ईसा, मूसा, कनफूची, जरतुश्त, बुद्ध इत्यादि के वर्ग में इन्हें रख कर देखा करते हैं पर ये वहाँ बिल्कुल बेमेल पड़ते हैं। भागवत में जो २४ अवतार गिनाए गए हैं उनमें अलबत कुछ उपदेशक अवतार हैं—जैसे कपिल, ऋषभ, बुद्ध। पर दस अवतारों में जिनकी ब्रह्मबुद्धि से उपासना चली वे राम और कृष्ण शब्दोपदेष्टा के रूप में हृदय के सम्मुख नहीं लाए गए हैं बल्कि जीवन के प्रत्येक पक्ष में सौन्दर्य्य और मंगल की ज्योति जगानेवाली भगवत्कला के रूप में लाए गए हैं। इन अवतारों में शक्ति, शील और सौन्दर्य्य तीनों की चरम अभिव्यक्ति एक साथ समन्वित हो कर मनुष्य के संपूर्ण हृदय को—उसके किसी एक ही पक्ष को नहीं—आकर्षित कर लेती है। सारांश यह कि ये लोक-व्यवहार के भीतर दिखाए गए हैं; उसके बाहर खड़े हो कर उपदेश देते हुए नहीं। मनुष्य का इस जगत् के साथ जो अनेकरूपात्मक सम्बन्ध है उस सम्बन्ध को भगवत्सम्बन्ध के रूप में प्रकाशित करने के लिए ये अवतार पृथ्वी पर आए हैं। माता-पिता जिस प्रेम से बालक की रक्षा और पालन करते हैं, पति-पत्नी जिस प्रेम से एक दूसरे को अनुरंजित करते हैं, भाई-भाई जिस प्रेम की प्रेरणा से एक दूसरे को सहारा देते हैं, जिस करुणा से प्राणियों की रक्षा की जाती है, जिस क्रोध से जनसमाज को पीड़ित करते हुए आततायियों और अत्याचारियों का दमन किया

जाता है, वह प्रेम, वह करुणा, वह क्रोध भगवान् का प्रेम, भगवान् की करुणा और भगवान् का क्रोध है।

जिस प्रकार भारतीय (सगुणमार्गी) भक्तों के उपास्य उपदेशक नहीं उसी प्रकार भक्त भी उपदेशक नहीं। इनके उपास्यों ने लोक-व्यापार में मग्न हो कर जो मंगल-ज्योति उसके भीतर जगाई उसकी दीप्ति और माधुर्य्य का अनेक रूपों में साक्षात्कार कर के मुग्ध होना और मुग्ध करना ही इन भक्तों का प्रधान व्यवसाय है। इनका शस्त्र भी मानव-हृदय है और लक्ष्य भी। भक्ति को मैं धर्म का हृदय कह आया हूँ। जिसके हृदय में भक्ति की प्रतिष्ठा हो गई उसका हृदय धर्म का हृदय हो गया। इस हृदय को ले कर भक्त हृदय को ही स्पर्श करना चाहता है। उपदेश द्वारा 'वाक्यज्ञान' कराने की प्रवृत्ति उसका लक्षण नहीं। कोरे उपदेशों का ग्रहण ऊपर ही ऊपर से होता है। न तो हृदय के मर्म को ही भेद सकते हैं, न बुद्धि की कसौटी पर स्थिर भाव से जमे रह सकते हैं। हृदय तो उनकी ओर मुड़ता ही नहीं और बुद्धि उनको ले कर अनेक दार्शनिक वादों के बीच जा उलझती है। अतः भक्त केवल हृदय के सहारे अपनी सत्ता को मंगल-विधायिनी सत्ता में परिणत करता है और दूसरों के भी हृदय पर ही प्रभाव डाल कर उन्हें कल्याण-मार्ग की ओर आकर्षित करता है। वह धर्म की ओर लोगों को आकर्षित करता है; लाठी ले कर हाँकता नहीं। वह धर्म-सौन्दर्य्य की छटा दिखा कर मुग्ध करता है, औचित्य-अनौचित्य की बातें कह कर क़ायल नहीं करता।

'पाप' और 'पुण्य' शब्द भक्तिमार्ग के नहीं हैं—धर्म के शासन और शास्त्र-पक्ष के हैं। भक्ति धर्म का हृदय है। उसमें 'रुचिर' और 'घृणित' ये ही दो विरुद्ध भावनाएँ हैं।

भक्त धर्म के शासन-पक्ष और शास्त्र-पक्ष का अवलंबन न करके उसके हृदय-पक्ष का अवलंबन करता है। वह धर्म के भय का प्रचार नही करता; धर्म की उपयोगिता का प्रचार नहीं करता, भक्ति का प्रचार करता है जिससे हृदय धर्ममय हो जाता है। प्रसिद्ध मनोविज्ञान-वेत्ता शैंड (Shand) ने अपनी पुस्तक 'शील का आधार' (Foundations of Character) में यह अच्छी तरह सिद्ध कर दिया है कि शील का मूल-स्थान भावात्मक हृदय है; निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं। व्यक्ति की व्यवहार-पद्धति जब प्रकृतिस्थ हो जाती है तब शील कहलाती है। जिस व्यवहार से दूसरे को किसी प्रकार की पीड़ा या कष्ट न पहुँचे, जिस व्यवहार से किसी की पीड़ा या कष्ट दूर हो, जिस व्यवहार से लोगों के सुख और सन्तोष की वृद्धि हो वह उत्तम शील या सुशीलता के अन्तर्गत माना जाता है। ऐसा व्यवहार जब तक व्यवहार करने-वाले को रुचिकर और आनन्दप्रद न होगा तब तक वह प्रकृतिस्थ नहीं कहा जा सकता। कोई बात रुचिकर या आनन्दप्रद हृदय को होती है। भक्त हृदय को ही जगाता है। जगाने की पद्धति बहुत सीधी है। भक्त भगवान् के पालक, रक्षक और रंजक रूप को जीवन के ऐसे स्थलों के भीतर रख कर दिखाता है जहाँ उसका सौन्दर्य्य फूट पड़ता है। भगवान् की अनन्त शक्ति

और अपार सौन्दर्य्य के योग में उनके अनन्त शील की जो मधुधारा प्रवाहित होती है वह प्रकृति को मधुर कर देती है। जब तक इस मधुधारा का संचार नहीं होता तब तक प्रकृति की कटुता नहीं जाती। इसी से गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है—

सूर, सुजान, सपूत, सुलच्छन, गनियत गुन-गरुआई।
बिनु हरिभजन इँदारुन के फल, तजत नहीं करुआई॥

उपास्य के सान्निध्य की जो प्रबल लालसा बराबर बनी रहती है वही भक्त को भगवान् के रक्षक, पालक और रंजक रूप के मेल में अपनी सत्ता ले आने की छिपी प्रेरणा करती रहती है। इसी दिव्य प्रेरणा के प्रभाव से कर्मक्षेत्र के भीतर भक्त की जीवनयात्रा मंगल-विधायिनी धारा के रूप में हो जाती है। इस प्रकृति-माधुर्य्य या सुशीलता को तुलसीदास जी ने भक्ति के उदय का लक्षण बताया है।

जिन मनोविकारों या भावों के बल से भक्त के शरीर से सारे शील-धर्म का पालन अनायास—बिना इसकी ओर ध्यान गए कि क्या शील है, क्या धर्म है—होता जाता है वे 'प्रेम' और 'करुणा' हैं। करुणा की प्रेरणा से रक्षा की ओर प्रवृत्ति होती है; प्रेम की प्रेरणा से पालन और रंजन की ओर। ये दोनो वृत्तियाँ प्रत्येक मनुष्य में थोड़ी बहुत होती हैं। रक्षक, पालक और रंजक भगवान् की लीला के श्रवण और कीर्त्तन से ये वृत्तियाँ उद्बुद्ध, उद्दीप्त और परिपुष्ट होती चली जाती हैं। इस प्रकार ये जितनी ही परिपुष्ट होंगी इनके प्रवर्त्तन का क्षेत्र उतना ही विस्तृत

और व्यापक होता जायगा। इस पुष्टि को प्राप्त कर के यदि भक्त संसार से अलग रहा तो कहना चाहिए कि उसने आत्म-निवेदन नहीं किया, अपना जीवन भगवान् को अर्पित नहीं किया। मैं इस पुष्टि को जीवन-यज्ञ के अनुष्ठान के लिए समझता हूँ। इस यज्ञ के पूर्ण होने पर ही भक्त की सत्ता भगवान् की सत्ता में लीन होती दिखाई पड़ती है। सगुणमार्गी भक्त के लिए भगवान् की ओर ले जानेवाला रास्ता इसी संसार के बीच से हो कर जाता है।

भारतीय भक्तिमार्ग के सर्वसाधारण में प्रचार की व्यवस्था (Propaganda) श्रवण और कीर्त्तन द्वारा ही सदा से रही है; उपदेश, तर्क या वाद-विवाद द्वारा नहीं। 'कीर्त्तन' को 'वंदन' या 'स्तवन' से भिन्न समझना चाहिए। वंदन या स्तवन व्यक्तिगत वस्तु है। वह उस 'पूजा' का अंग है जो व्यक्ति केवल अपनी ओर से और अपने लिए करता है। पर कीर्त्तन का सम्बन्ध जन-समुदाय की मर्मानुभूति (Group Experience) से होता है। कीर्त्तन भगवान् के अनन्त सौन्दर्य्य, अनन्त शक्ति और अखंड शील की सर्वसाधारण के बीच रसमयी घोषणा है। कीर्त्तन द्वारा भक्तिरस का संचार सहस्रों नर-नारियों में एक साथ होता है। किसी भजन-मंडली के चारो ओर बैठे सैकड़ों मनुष्य भक्तिरस में झूमते पाए जाते हैं। किसी कथावाचक के मुहँ से कोई मार्मिक प्रसंग सुन कर सहस्रों श्रोता भीतर बाहर की सब सुध भूल रसमग्न हो जाते हैं।

भक्ति के द्वारा जिस शील या धर्म की अनायास सम्प्राप्ति की बात ऊपर कही गई है वह 'साधारण धर्म' है—मनुष्य का मनुष्य के प्रति या अन्य प्राणियों के प्रति सामान्यतः जो धर्म होना चाहिए वह धर्म है। विशेष धर्मों का—जैसे, लोकधर्म, कुल-धर्म, गृहधर्म, वर्णधर्म, आश्रमधर्म—भक्तिमार्ग में क्या स्थान है, इसका भी कुछ विचार कर लेना चाहिए। पहली बात तो भक्ति के अधिकार की है। जहाँ तक इस अधिकार का सम्बन्ध है वहाँ तक तो वर्ण, आश्रम, जाति-पाँति आदि का कुछ भी प्रतिबन्ध नहीं है। भक्ति में नीच-ऊँच, छोटे-बड़े, बालक-वृद्ध इत्यादि का कोई भेद नहीं है, जैसा कि इस पुरानी कहावत से प्रकट है—

'जाति-पाँति पूछै नहि कोई।
हरि को भजै सो हरि को होई'।

जिसमें जितनी ही भक्ति हो वह उतना ही श्रेष्ठ कहा जायगा—चाहे वह गृहस्थ हो चाहे संन्यासी; चाहे नीच जाति का हो चाहे ऊँची जाति का। भक्ति के व्यवहार-क्षेत्र में तो यही स्थिति सगुण-निर्गुण, रामोपासक-कृष्णोपासक सब सम्प्रदायों की है। भक्ति के अधिकारी मनुष्य मात्र हैं। यहाँ तक तो कोई मत-भेद या झगड़ा नहीं। भारतीय जनता का भी यही भाव चला आ रहा है। भक्त के वेश में चांडाल भी दरवाजे पर आता है तो उसका वैसा ही आदर होता है जैसा ब्राह्मण पंडित का।

भक्ति के व्यवहार-क्षेत्र के बाहर यह प्रश्न टेढ़ा हो जाता है। वहाँ यह इस जटिल रूप में आता है कि क्या भक्त को कर्ममार्ग

और ज्ञानमार्ग की सत्ता ही न माननी चाहिए। अपना सब कुछ त्याग कर लोकहित में तत्पर रहनेवाले कर्मवीर, ज्ञान-विज्ञान की उन्नति में रत विद्वान् या तत्त्वचिन्तक, अपने पराक्रम से अत्याचारियों और लोकपीड़कों का दमन करनेवाले योद्धा, अपने शरीर पर अनेक संकट सह कर भी राजधर्म का पालन करनेवाले राजा क्या भक्तों के सम्मान के पात्र नहीं? अपने यहाँ की भक्ति के मूल और शुद्ध स्वरूप की दृष्टि से तो वे पूर्ण रूप से भक्त के सम्मान और पूजा के पात्र हैं। गीता में जिस कर्म-ज्ञान-समन्वित भक्ति का प्रतिपादन है उसके अनुसार यही सम्यक् दृष्टि है। गीता में भगवान् ने स्पष्ट कहा है कि किसी शुभ गुण का—चाहे वह शील हो या सौन्दर्य्य, चाहे शक्ति या पराक्रम हो, चाहे ज्ञान या बुद्धि—जहाँ पूर्ण उत्कर्ष दिखाई पड़े वहाँ मेरी विशेष कला समझना। इस विशेष कला के सम्मुख सिर झुकाना सच्ची भक्ति का एक अंग है। इस सिर झुकाने से भक्त की अनन्यता में किसी प्रकार की बाधा नहीं पड़ती। यह सिर झुकाना शरणागत की दीनता नहीं है। यह श्रद्धा और सम्मान का भाव है जिसका सब से उत्तम आश्रय भक्त का अहंभावशून्य हृदय है। जो भगवान् की उपासना पालक, रक्षक और रंजक के रूप में करता है वह पालन, रक्षण और रंजन मे एकाग्रचित्त से रत महात्माओं की उपेक्षा कैसे कर सकता है?

शुद्ध भारतीय भक्तिमार्ग का अनुयायी जिस प्रकार ज्ञानमार्ग में अड़ंगा लगाने नहीं जाता उसी प्रकार कर्ममार्ग के भीतर भी

अपनी व्यवस्था चलाने नहीं दौड़ता। कर्ममार्ग से मेरा अभिप्राय केवल यज्ञ-यागादि से नहीं है; बल्कि मन, वचन और कर्म की उस प्रवृत्ति से है जिसके द्वारा लोक का परिचालन होता है— जिसके द्वारा परस्पर भिन्न और विरुद्ध प्रकृतियों के प्राणी समाज-बद्ध हो कर रहते हैं। माता-पिता, आचार्य्य, विद्याव्रती, वीरव्रती, दानव्रती के प्रति मन में श्रद्धा, वचन में नम्रता और कर्म में अनुकूलता सत्त्वस्थ प्रकृति का विधान है। जगत् भिन्न गुणात्मक है और भिन्न गुणात्मक रहेगा। इस दशा में लोकधर्म का प्रवर्त्तन इसी रूप में हो सकता है कि 'सत्त्व' ऐसी प्रधानता प्राप्त करे कि शेष गुण उसके अधीन हो कर उसी के लक्ष्य की पूर्त्ति करें। अतः शील की व्यक्तिगत या एकान्त साधना से लोकधर्म का स्वरूप कभी कभी बिल्कुल भिन्न होता है। यदि हम पर कोई प्रहार या गालियों की बौछार करे तो क्षमा द्वारा शील की एकान्त साधना समीचीन होगी, पर यदि हमारे सामने कोई अत्यन्त क्रूर और निष्ठुर अत्याचारी किसी दीन या असहाय को पीड़ित कर रहा है तो बल-पूर्वक उस अत्याचारी को रोकना और यदि आवश्यक हो तो उसे आघात द्वारा असमर्थ करना लोकधर्म होगा। इसी प्रकार राजा-प्रजा, सेनापति-सैनिक, अफसर-मातहत, मूर्ख-पंडित इत्यादि के बीच जो पारस्परिक विशेष धर्म हैं वे भी लोकधर्म के अन्तर्गत हैं।

भक्त की सम्यक् दृष्टि वही कही जा सकती है जिसके सामने अन्तर्मुख शील-साधना और बहिर्मुख लोकधर्मपालन के बीच

तथा 'साधारण धर्म' और 'विशेष धर्म' के बीच सामंजस्य स्पष्ट हो। हमारे भक्तिमार्ग की सौन्दर्य्य-भावना में लोकधर्म का सौन्दर्य्य भी सम्मिलित है। इसी से उसके भीतर पंडितों और विद्वानों की निन्दा, कर्मवीरों और लोकरक्षकों की अवज्ञा, अपनी सिद्धि और महत्ता के प्रचार की चेष्टा, उस चेष्टा में बाधक सामाजिक व्यवस्था से विद्वेष की प्रवृत्ति नहीं पाई जाती। लोकधर्म के साथ यही सामंजस्य भारतीय पद्धति के भक्तों की एक ऐसी पहचान है जो उन्हें विदेशी पद्धति के निर्गुण भक्तों से अलग करती है। यह भेद तुलसी, सूर, नन्ददास, हित-हरिवंश इत्यादि भक्तों की रचनाओं को कबीर, दादू, मलूकदास इत्यादि की बानियों के साथ मिलाने से स्पष्ट हो जाती है।

जो अपने यहाँ की भक्ति के स्वरूप को समझनेवाले पढ़े-लिखे, शास्त्रज्ञ, सच्ची भावना वाले भक्त थे वे तो अपने शुद्ध सरल भाव में स्थित रहे, पर सधुक्कड़ भक्तों का जो बड़ा भारी समुदाय धीरे धीरे सगुण-मार्ग के भीतर खड़ा हुआ और बढ़ता गया उसमें कुछ प्रवृत्तियाँ निर्गुण-पंथियों की भी आ गई। भक्तों की अलौकिक विभूतियाँ प्रकट करने, उनके माहात्म्य का प्रचार करने, तत्त्वदर्शी विद्वानों और पंडितों से उन्हें कहीं अधिक पूजार्ह बनाने का प्रयत्न उसमें भी दिखाई पड़ा। 'भक्तमाल' इसी प्रकार के प्रयत्न का फल है। उसमें उपयुक्त सामंजस्य का भाव, जो भारतीय भक्ति का प्रधान लक्षण है, नीचे दब गया है। पर इस प्रकार की पुस्तकों को मैं 'भंडारा' करनेवाले और भूमंडल पर सुख-

स्वच्छन्दता के साथ विचरनेवाले साधुओं का 'प्रपगंडा' (Propaganda) मात्र समझता हूँ ।

भारतीय भक्तिमार्ग के विकास और उसके स्वरूप का इतना निरूपण हमारे प्रयोजन के लिए बहुत है। श्रीमद्भागवत के आविर्भाव के उपरान्त भक्ति ने जो बाह्य और आभ्यन्तर स्वरूप प्राप्त किया उसके प्रवर्त्तकों में चार मुख्य आचार्य्य दिखाई पड़ते है—रामानुज, मध्व, निम्बार्क और वल्लभ। इन सब आचार्य्यों का सामान्य प्रयत्न शंकराचार्य्य के मायावाद अर्थात् जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिषेध था। यह कहा जा चुका है कि ये आचार्य्य भावुक तत्त्ववेत्ता थे। ये भक्त और दार्शनिक दोनो थे। इन्होंने उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र के चिन्तन द्वारा ब्रह्म के स्वरूप का बोध प्राप्त करके अपनी अपनी रुचि और भावना के अनुसार उपासना की पद्धतियाँ चलाई है। सूरदास जी ने वल्लभाचार्य जी के शिष्य हो कर ही भगवान् की लीला का कीर्त्तन किया है, इससे अगले प्रकरण में उक्त आचार्य्य तथा उनके सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय दिया जायगा।

श्रीवल्लभाचार्य्य

वल्लभाचार्य्य जी का जन्म वैशाख कृष्ण ११ संवत् १५३५ में रायपुर के पास चम्पारण्य नामक स्थान में हुआ। उनके पिता का नाम लक्ष्मण भट्ट और माता का एल्लम्मागारु था। वे तैलंग ब्राह्मण थे और उनके कुल में गोपाल-रूप में श्रीकृष्ण की उपासना चली आती थी। सम्भवतः वे विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के अनुयायी थे। वल्लभाचार्य्य जी ने अपने पिता के साथ काशी में रह कर वेद, वेदांग, दर्शन इत्यादि का अध्ययन किया। उनकी अवस्था बहुत नहीं हुई थी कि उनके पिता लक्ष्मण भट्ट का देहान्त हो गया। इसके उपरान्त उन्हें मध्व, रामानुज, निम्बार्क आदि के साम्प्रदायिक तत्त्वों के पूर्ण रूप से अनुशीलन की उत्कंठा हुई और वे दक्षिण की ओर गए। वहाँ उस समय विजयनगर का हिन्दू

साम्राज्य बहुत समृद्ध दशा में था। कृष्णदेव राय उसके शासक थे। वे पूर्ण वैष्णव थे। जिन दिनों वल्लभाचार्य्य जी वहाँ पहुँचे उन दिनों राजधानी में बड़े समारोह के साथ भारतवर्ष के सब सम्प्रदायों के विद्वानों की महासभा हो रही थी और शास्त्रार्थ चल रहा था। वल्लभ जिस समय उस सभा में गए उस समय द्वैतवादी माध्व सम्प्रदाय के अनुयायी व्यासतीर्थ और शंकरमतानुयायी अद्वैतवादियों से वाद छिड़ा हुआ था। वल्लभाचार्य्य जी ने जा कर जब अपने शुद्धाद्वैत का प्रतिपादन किया तब सब लोग उनकी प्रकांड विद्वत्ता और प्रबल युक्तियों पर मुग्ध हो गए और सब ने उन्हें एक बड़ा आचार्य्य माना। महाराज ने उनका बड़ा सम्मान किया और 'कनकाभिषेक' कर के सौ मन सोना इन्हें देना चाहा, पर वे अस्वीकार कर के चले गए।

काशी में शंकरमतानुयायी अद्वैतवादी विद्वानों के साथ आचार्य्य जी का बराबर वाद-विवाद चलता रहा। अन्त में उन्होंने स्वपक्ष-प्रतिपादक एक गद्यपद्यमय प्रबन्ध विश्वनाथ जी के मन्दिर के द्वार पर यह लिख कर लटका दिया कि जिसे खंडन करना हो करे। इस पर बहुत विरोध बढ़ा और वल्लभाचर्य्य जी काशी छोड़ कर गंगा के उस पार अड़ेल नामक स्थान पर चले गए। वहाँ पर उन्होंने बहुत से ग्रन्थों का प्रणयन किया। बंग देश के प्रसिद्ध वैष्णव महात्मा श्री चैतन्य महाप्रभु तथा निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रसिद्ध विद्वान् केशव काश्मीरी के साथ उनका समागम होने पर परस्पर बहुत स्नेह स्थापित हो गया। केशव काश्मीरी ने

वल्लभाचार्य्य जी से भागवत की कथा सुनी और दक्षिण में अपने शिष्य माधव भट्ट काश्मीरी को उन्हें भेंट किया। माधव भट्ट आचार्य्य जी के बड़े भारी भक्त थे और अड़ेल में लेखक और सहायक का काम करते थे। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है अड़ेल में ही आचार्य्य जी के अधिकतर ग्रन्थ लिखे गए।

वल्लभाचार्य्य जी के मुख्य ग्रन्थ ये हैं—(१) पूर्वमीमांसा भाष्य (२) उत्तरमीमांसा या ब्रह्मसूत्र भाष्य जो अणुभाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। यह इनके शुद्धाद्वैतवाद का प्रतिपादक प्रधान ग्रन्थ है। (३) श्रीमद्भागवत की सूक्ष्म टीका और सुबोधिनी टीका। (४) तत्त्वदीप-निबन्ध तथा (५) सोलह छोटे बड़े प्रकरण ग्रन्थ। इनमें से पूर्वमीमांसा भाष्य का बहुत थोड़ा सा अंश मिलता है। अणुभाष्य आचार्य्य जी पूरा नहीं कर सके थे। अन्त के डेढ़ अध्याय उनके पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथ जी ने लिख कर ग्रन्थ पूर्ण किया था। भागवत की सूक्ष्म टीका नहीं मिलती, लुप्तप्राय है। सुबोधिनी टीका भी प्रथम, द्वितीय, तृतीय और दशम स्कंधों की ही मिलती है। प्रकरण ग्रन्थों में से 'पुष्टिप्रवाहमर्य्यादा' नाम की पुस्तक श्रीमूलचंद तुलसीदास तेलीवाला बी० ए०, एल० एल० बी० ने सम्पादित कर के प्रकाशित कराई है।

आचार्य्य जी के जीवन का अन्तिम भाग अड़ेल में ही अधिकतर व्यतीत हुआ। यहाँ वे कृष्णप्रेम में उसी प्रकार लीन रहते थे जिस प्रकार गोपियाँ रहती थीं। अन्य आचार्य्यों के समान

वल्लभाचार्य्य जी के सम्बन्ध में भी प्रसिद्ध है कि ये दिग्विजय के लिए कई बार निकले और भारतवर्ष के प्रसिद्ध प्रसिद्ध स्थानों में जा कर शास्त्रार्थ किया। व्रज की यात्रा उन्होंने कई बार की। कहते हैं कि गोवर्द्धन पर्वत पर देवदमन या श्रीनाथजी की मूर्त्ति प्रकट हुई जिसने उन्हें स्वप्न दिया कि 'यहाँ मन्दिर बना कर मेरी प्रतिष्ठा करो और पुष्टिमार्ग का प्रचार करो'। गोवर्द्धन पर जा कर वल्लभाचार्य्य जी ने श्रीनाथजी की मूर्त्ति का दर्शन किया। पूरन-मल खत्री ने वहाँ बड़ा भारी मन्दिर बनवाया जिसमें श्रीनाथजी की मूर्त्ति की प्रतिष्ठा की गई। आचार्य्य जी चातुर्मास यहीं बिताया करते थे। यहीं पर उन्होंने 'सेवामार्ग' की नवीन व्यवस्था की और बड़ी सजावट, भोगराग और धूमधाम के साथ भगवान् की पूजा करने की पद्धति चलाई। ५२ वर्ष की अवस्था में वल्लभाचार्य्य जी संन्यास ले कर काशी आए और एक मास का निराहार व्रत रह कर आषाढ़ शुक्ल २ संवत् १५८७ में शरीर-त्याग किया।

आचार्य्य जी का विवाह हुआ था। इनकी स्त्री का नाम महा-लक्ष्मी था। उस विवाह से इन्हें दो पुत्र हुए थे—गोपीनाथ और विट्ठलेश्वर। गोपीनाथ जी के पुत्र पुरुषोत्तम हुए जिनकी वंशपरंपरा नहीं चली। विट्ठलेश्वर के सात पुत्र हुए। वर्त्तमान समय में वल्लभ-परंपरा के जो महाराज या गोस्वामी भिन्न भिन्न स्थानों के अधिकारी हैं वे सब विट्ठलेश्वर के वंश में हैं। व्रज में ये ही विट्ठलेश्वर गोसाईं विट्ठलनाथ जी के नाम से प्रसिद्ध थे।

इनके समय में सम्प्रदाय का प्रचार और प्रभाव बहुत कुछ बढ़ा। टोडरमल, बीरबल, राय पुरुषोत्तम ऐसे लोग गोसाईं जी के भक्तों में थे। अकबर ने भी गोकुल और जातिपुर नामक गाँव गद्दी को प्रदान किए थे।

वल्लभाचार्य्य जी के दार्शनिक सिद्धान्त का थोड़ा दिग्दर्शन आवश्यक प्रतीत होता है। यह कहा जा चुका है कि वल्लभाचार्य्य जी विष्णुस्वामी के सिद्धान्त के अनुयायी थे जिसका सम्यक् प्रतिपादन उन्होंने अपने अणुभाष्य आदि ग्रन्थों द्वारा किया। विष्णुस्वामी एक द्रविड़ राजा के मन्त्री के पुत्र थे। नाभाजी ने अपने भक्तमाल में विष्णुस्वामी की शिष्यपरंपरा में चार नाम दिए हैं—ज्ञानदेव, नामदेव, त्रिलोचन और वल्लभ। विष्णुस्वामी के दार्शनिक सिद्धान्त का पूर्णतया निरूपण वल्लभाचार्य्य जी ने किया अतः यह उन्हीं का सिद्धान्त कहा जाता है। यह सूचित किया जा चुका है कि रामानुज से ले कर वल्लभाचार्य्य तक जितने भक्त दार्शनिक या आचार्य्य हुए हैं सब का लक्ष्य शंकराचार्य्य के मायावाद या विवर्त्तवाद को हटाने का था जिसके भीतर उपासना या भक्ति अविद्या या भ्रान्ति ही ठहरती थी। 'भक्ति का विकास' नामक प्रकरण में यह दिखाया जा चुका है कि उपनिषद् के ज्ञानकांड में ब्रह्म के स्वरूप का कथन कई ढंग का है—कहीं ब्रह्म 'अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अरस, अगन्ध, अदृश्य, अग्राह्य अर्थात् निर्गुण और अव्यक्त कहा गया है और कही सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वरस, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् अर्थात् सगुण और

सर्वरूप। इसके अतिरिक्त बहुत जगह वह उभयात्मक कहा गया है।

शंकराचार्य्य जी ने निर्गुण और अव्यक्त को ही ब्रह्मलक्षण स्वीकार कर के इस निरन्तर बदलते रहनेवाले नामरूपात्मक जगत् को ब्रह्म की सत्ता से भिन्न केवल भ्रान्त प्रतीति या माया कहा। जगत् की वास्तव सत्ता न होते हुए भी मन की जिस वृत्ति द्वारा उसकी सत्ता की प्रतीति होती है शंकर के अद्वैतवाद में वह विवर्त्त कही गई है। सर्प न होने पर भी रस्सी में उसके होने की जो मिथ्या प्रतीति होती है, वह विवर्त्त के कारण। इस विवर्त्तवाद की प्रतिष्ठा शंकर ने परिणामवाद के प्रतिपेध में की है। उनका कहना है कि ब्रह्म का पारमार्थिक स्वरूप नित्य, एकरस और अविकारी है उसका परिणाम या विकार (एक रूप से दूसरे रूप को प्राप्त होना) हो नही सकता। अतः ब्रह्म जगत् का उपादान कारण नही हो सकता। इसी प्रकार ब्रह्म सर्वकामनारहित, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त हो कर निमित्त कारण भी नहीं हो सकता। ब्रह्म न कर्त्ता है, न भोक्ता। शंकराचार्य्य ने उपनिषदों में कथित ईश्वर, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वकर्मा इत्यादि को ब्रह्म का पारमार्थिक रूप नही माना बल्कि अविद्यात्मक उपाधि-विशिष्ट रूप कहा। इस प्रकार उन्होंने ब्रह्म के दो रूप बताए—एक नामरूपविकारभेदोपाधिविशिष्ट या सगुण और दूसरा सर्वोपाधिविवर्जित या निर्गुण। इसी दूसरे निर्गुण, निराकार और निर्विशेप (Absolute) को ही उन्होंने ब्रह्म का असली या

पारमार्थिक रूप स्वीकार किया *। सोपाधि या सगुण रूप को उन्होंने केवल व्यावहारिक अर्थात् उपासना के व्यवहार के लिए माना।

वल्लभाचार्य्य जी ने उपनिषद् के वाक्यों और वादरायण के ब्रह्मसूत्रों को ही ले कर ब्रह्म को उभयलिंग-युक्त अर्थात् निर्गुण और सगुण दोनो माना। उन्होंने 'सर्ववाद' स्वीकार कर के ब्रह्म में सब धर्म—मनुष्य की बुद्धि को परस्पर विरुद्ध जान पड़ते हुए धर्म—भी माने †। उनसे पूर्व निम्बार्क ने भी यही पक्ष ग्रहण किया था। दोनो ने 'अरूप, अशब्द' इत्यादि निषेध-वाचक श्रुतियों में इयत्ता का निषेध—इस बात का निषेध कि ब्रह्म सर्वरूप, सर्वकर्म इत्यादि ही है, आगे कुछ और नही—कहा। दोनो रूपों में जो

---

* द्विरूप हि ब्रह्मावगम्यते; नामरूपविकार भेदोपाधि-विशिष्टं, तद्विपरीतं च सर्वोपाधिविवर्जितम्। × × × × × × × × × × × × × ×

अपि च यत्र तु निरस्तसर्वविशेषं पारमेश्वरं रूप उपदिश्यते, भवति तत्र शास्त्रम्। —शारीरक भाष्य।

† वल्लभाचार्य्य जी ने "उभयव्यपदेशात् अहिकुण्डलवत्" इस ब्रह्मसूत्र (३-२-२७) को ले कर कहा है—

'यथा सर्पः ऋजुरनेकाकारः कुण्डलश्च भवति तथा ब्रह्मस्वरूपं सर्वप्रकारं भक्तेच्छया तथा स्फुरति। × × × तस्मात् सकलविरुद्धधर्मा भगवत्येव वर्त्तन्त इति न कापि श्रुतिरूपचरितार्थेति सिद्धम्।

—अणुभाष्य।

विरोध दिखाई पड़ता है वह वास्तविक नहीं विरोधाभास मात्र है। वल्लभाचार्य्य जी ने शंकरकृत व्यावहारिक और पारमार्थिक तथा सोपाधि-निरुपाधि या सगुण-निर्गुण का भेद उपनिषद् या ब्रह्मसूत्र द्वारा सिद्ध नही स्वीकार किया। उन्होंने कहा कि सारे श्रुति-वाक्यों के समन्वय के लिए बादरायण ने ब्रह्मसूत्रों की रचना की है और उन सूत्रों के आरम्भ में जिज्ञासा के उपरान्त "जन्माद्यस्य यतः" (जिससे इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय होता है) द्वारा जिस ब्रह्म का निर्देश किया है वह केवल निर्विशेष और निर्गुण नहीं हो सकता। सर्व शक्तिमान् और सर्वधर्मा ही हो सकता है। जब ब्रह्म सर्वकर्मा और सर्वशक्तिमान् ठहरा तब कारण रूप में सर्वकर्त्ता और सर्वभोक्ता भी वही है।

वल्लभाचार्य्य जी ने ब्रह्मसूत्र के "आत्मकृतेः परिणामात् (१-४-२६)" को ले कर कहा कि यह सारी सृष्टि ब्रह्म की ही आत्मसृष्टि या आत्मकृति है। किस लिए? केवल लीला या खेल के लिए, जैसा कि बादरायण ने अपने "लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् (२-१-३३)" सूत्र में कहा है। जब कि अपने को सृष्टिरूप में परिणत करना और अपने को अंशरूप जीवों में बिखराना ब्रह्म की लीला मात्र है तब इस कर्तृत्व से उसके आनन्द-स्वरूप में किसी प्रकार की बाधा नहीं पड़ सकती। वह केवल आनन्द का ही भोक्ता बना रहता है।

'उसने अपने को स्वयं किया', 'बहुत हो जाना चाहिए', 'एक मैं हूँ बहुत हो जाऊँ' * आदि श्रुतियों का आशय ले कर, जिनसे ब्रह्म का कर्त्ता और कर्म दोनो होना ध्वनित होता है, ब्रह्म-सूत्र में प्रकृति ब्रह्म से अलग नहीं कही गई है† । इस प्रकार ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण और उपादान दोनो बताया गया है। शंकराचार्य्य ने यह सब कथन ईश्वर या सोपाधि ब्रह्म के सम्बन्ध में माना है। और आचार्य्यों ने भी ब्रह्म को परिणामी या विकारी होने से बचाया है। रामानुज और श्रीकंठ ने चिदचि-द्विशिष्ट ब्रह्म के शरीर को उपादान कहा है, भास्कर और निम्बार्क ने ब्रह्म की शक्ति को, विज्ञानभिक्षु ने प्रकृति को, जो ब्रह्म से अविभक्त है। विष्णुस्वामी और वल्लभाचार्य्य ने ही साहस के साथ सीधे ब्रह्म का ही परिणाम स्वीकार किया है। उन्होंने कहा है कि अक्षर (ब्रह्म) अपनी आविर्भाव तिरोभाव की अचिंत्य शक्ति से जगत् के रूप में परिणत भी होता है और उसके परे भी रहता है। ब्रह्म का यह परिणाम रूप अर्थात् जगत् असत् या मिथ्या नहीं है, यह भी सत् है। ब्रह्म के विकार या परिणाम नाम-रूप ब्रह्म से अनन्य हैं; उसी प्रकार जैसे मिट्टी के बने हुए घड़े आदि भिन्न भिन्न होने पर भी मिट्टी से अनन्य हैं; सोने के बने हुए कड़े, कुंडल इत्यादि गहने भिन्न भिन्न होने पर भी सोने से

---

* 'तदात्मानं स्वयमकुरुत', 'बहुस्यां प्रजायेय', 'एकोऽहं बहुस्याम्'।

† 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्' (१-४-२३)।
'आत्मकृतेः परिणामात्' (१-४-२६)।

अनन्य हैं। कारण से बना हुआ कार्य्य उससे अनन्य होता है, मिथ्या नहीं होता *।

यहाँ तक तो ब्रह्म और जगत् का सम्बन्ध ले कर जो मतभेद है वह दिखाया गया। अब ब्रह्म और जीवात्मा का सम्बन्ध ले कर जो मतभेद है उसका उल्लेख किया जाता है। 'पादोऽस्य सर्वा भूतानि' इस वेदवाक्य का आशय 'अंशो नानाव्यपदेशात्' इस ब्रह्मसूत्र में प्रकट किया गया है। 'शंकराचार्य्य' जी ने ब्रह्म को 'निष्कल' और 'निरवयव' बतानेवाले उपनिषद्वाक्यों को ही प्रमाण मान कर 'ब्रह्म' का अंश होना नही माना है और सूत्र के 'अंश' को 'अंश इव' के अर्थ में ग्रहण किया है। वल्लभाचार्य्य ने "यथाग्नेः क्षुद्राः विस्फुलिंगाः" (जैसे अग्नि से

---

* इस सम्बन्ध में श्रुति यह है—"यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारंभणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्"। उपनिषदों में कार्य्य-कारण के अनन्यत्व के दृष्टान्त इसी प्रकार के दिए गए हैं, पर शंकराचार्य्य ने अपनी ओर से भ्रान्ति या मिथ्यात्व-सूचक दृष्टान्त दिए हैं—जैसे मृगतृष्णा के जल का ऊसर-मैदान से अनन्यत्व, सर्प का रज्जु से, रजत का शुक्ति से। इस पर वल्लभ ने कहा है—"तदनन्यत्वं प्रतीयते, कार्य्यस्य कारणानन्यत्वं, न मिथ्यात्वम्"। वल्लभ ने कारण की सत्यता से कार्य्य की सत्यता मानी है। मिट्टी से अलग घड़े की सत्यता नहीं है, पर मूलत: मिट्टी होने में उसकी सत्यता है। जैनदर्शन मे 'द्रव्य' और 'पर्य्याय' का सम्बन्ध इसी प्रकार कहा गया है।

छोटी छोटी चिनगारियाँ निकलती हैं वैसे ही ब्रह्म से जीव निकलते हैं) इस श्रुति और 'अंशो नानाव्यपदेशात्' इस सूत्र के अनुसार जीव को ब्रह्म का ही वास्तव अंश माना है * । विज्ञानभिक्षु ने भी जीव को वास्तव अंश माना है । रामानुज ने 'अंश' का अर्थ (ब्रह्मविशेष्य का) विशेषण लिया है और निम्बार्क ने (शक्तिमान् ब्रह्म की) शक्ति ।

इसी प्रकार जीवात्मा के स्वरूप को ले कर भी मतभेद है । शंकर ने जीवात्मा और ब्रह्म के स्वरूप में कोई भेद नहीं माना है । वे ब्रह्म के समान ही जीवात्मा को भी नित्य ज्ञान-स्वरूप और विभु (सर्वव्यापी) मानते हैं । इसके विरुद्ध उपर्युक्त 'स्फुलिंग' के दृष्टान्त तथा जीवात्मा की 'गति-आगति' के उल्लेख को ले कर रामानुज, निम्बार्क आदि भक्त आचार्य्यों ने जीवात्मा को अणुरूप माना है । वल्लभाचार्य्य जी ने भी अपने भाष्य में जीव के अणुत्व का ही प्रतिपादन किया है जिससे उनका भाष्य 'अणुभाष्य' कहलाता है । उनका मत है कि जीवात्मा जो कहीं कहीं विभु या ब्रह्म ही कहा गया है† वह ब्रह्म के साथ उसकी अनन्यता

---

* विस्फुलिंगा इवाग्नेर्हि जडजीवा विनिर्गताः ।
सर्वतः पाणिपादान्तात् सर्वतोऽक्षि शिरोमुखात् ॥
निरिन्द्रियात् स्वरूपेण तादृशादिति निश्चय. ।
सदंशेन जडाः पूर्वं चिदंशेनेतरे अपि ॥
अन्यधर्मतिरोभावान्मूलेच्छातोऽस्वतंत्रिणः ।

† जैसे 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों में ।

की दृष्टि से। जब जीव ज्ञान द्वारा ब्रह्मभाव को प्राप्त करता है अर्थात् ब्रह्मदशा में होता है तब वह अलबत विभु हो जाता है। यद्यपि जीवात्मा ब्रह्म से अनन्य है, पर ब्रह्म अधिक है, यह भेद है *। इस प्रकार जीवात्मा एक ओर तो ब्रह्म से अनन्य है, दूसरी ओर भिन्न है। अनन्य वस्तु भिन्न हो सकती है। शंकर ने जीवात्मा को ज्ञानस्वरूप कहा है, पर वल्लभ ने ज्ञाता माना है।

शंकराचार्य्य ने जीवात्मा को ब्रह्म ही के समान अकर्त्ता और अभोक्ता माना है। उनके अनुसार कर्म करना और भोग करना दोनो औपाधिक या आविद्यक हैं। उनका कहना है कि कर्तृत्व यदि जीवात्मा में स्वाभाविक हो तब तो वह जीवात्मा से उसी प्रकार कभी अलग ही नहीं हो सकता जैसे ताप अग्नि से कभी अलग नहीं हो सकता और जीव का मोक्ष असम्भव हो जायगा। कर्तृत्व दुःखरूप है, अतः वह दुःख में ही पड़ा रहेगा। वल्लभाचार्य्य का यह उत्तर है कि कर्म सदा दुःखरूप हो, यह आवश्यक नहीं। कर्म दुःस्वरूप तब होता है जब वह अभिमान-पूर्वक किया जाता है कि 'मैं कर रहा हूँ'। ब्रह्मविद् जो कर्म करता है वह अपने को कर्त्ता मान कर नहीं, ब्रह्म को असली कर्त्ता मान कर †। इस प्रकार उसके सारे कर्म ब्रह्म को अर्पित हो जाते हैं। जिस प्रकार जगत्

---

* अधिकं तु भेदनिर्देशात् (ब्रह्मसूत्र २-१ २८)।

† परात् तु तच्छ्रुतेः (२-३-४१) अर्थात् जीव का कर्तृत्व परब्रह्म ही से है।

के सारे व्यापारों को वह ब्रह्म-प्रयत्न के रूप में देखता है वैसे ही अपने कर्मों को भी। सब कुछ करता हुआ भी वह समझता है कि मैं कुछ नहीं कर रहा हूँ *। इस प्रकार व्यक्तिगत सत्ता का लोकसत्ता में लय हो जाने से प्रिय-अप्रिय की परिमित भावना का परिहार हो जाता है। इस दशा को प्राप्त जीव कर्त्ता और भोक्ता हो कर भी दुःख से परे रहता है।

दर्शन के क्षेत्र में वल्लभाचार्य्य जी की सब से गहरी पहुँच उनके आविर्भाव-तिरोभाव के प्रखर सिद्धान्त में दिखाई पड़ती है। वह सिद्धान्त यह है। अक्षर ब्रह्म अपने सत्, चित् और आनन्द इन तीनो स्वरूपों का आविर्भाव और तिरोभाव करता रहता है। तीनो स्वरूपों का प्रकाश तीन भिन्न भिन्न शक्तियों से होता है—'सत्' का प्रकाश 'सन्धिनी' से, 'चित्' का 'संवित्' से और 'आनन्द' का 'ह्लादिनी' से। पुरुषोत्तम (ब्रह्म) में ये तीनो शक्तियाँ अनावृत रहती हैं, अर्थात् सत्, चित् और आनन्द तीनो स्वरूपों का प्रकाश रहता है। जीव में 'सन्धिनी' और 'संवित्' अनावृत रहती है और 'ह्लादिनी' आवृत्त रहती है—अर्थात् 'सत्' और 'चित्' का आविर्भाव रहता है और 'आनन्द' का

---

* न च ब्रह्मरूपात्मविज्ञाने देहाध्यासाभावेन कर्तृत्वाभावात् कर्मानधिकार इति वाच्यम्; निरध्यस्तैरेव देहादिभिः कर्मकरणसम्भवात्; अतएव जीवन्मुक्तानां सर्वे व्यापाराः। तथा च स्मृतिः, नैव किंचित्करोम्यहमिति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् इत्यादि। —अणुभाष्य।

तिरोभाव। जड़ में केवल 'सन्धिनी' अनावृत रहती है और 'सवित्' और 'ह्लादिनी' दोनो आवृत रहती हैं—अर्थात् केवल 'सत्' का आविर्भाव रहता है और 'चित्' और 'आनन्द' का तिरोभाव। इस व्यवस्था के अनुसार न तो ब्रह्म ही को ग्रस्त करनेवाली उससे अन्य कोई दूसरी वस्तु माया है और न जीवात्मा को ही। जीवात्मा भी वस्तुतः ब्रह्म ही है जिसमें 'आनन्द' स्वरूप आवृत रहता है। इस प्रकार आत्मा और परमात्मा के शुद्ध अद्वैतभाव का प्रतिपादन करने से वल्लभाचार्य्य जी का सिद्धान्त 'शुद्धाद्वैतवाद' कहलाता है।

वल्लभाचार्य्य जी के आविर्भाव-तिरोभाव सिद्धान्त के लिए ब्रह्मसूत्रों में संकेत मिलता है; जैसे, जीव का ब्रह्म-स्वरूप ब्रह्म के अभिध्यान से तिरोहित रहता है; ब्रह्म की प्राप्ति होने पर उसका आविर्भाव होता है *। पर इस सिद्धान्त को वल्लभ ही ने पूर्ण रूप से पल्लवित किया। इस आविर्भाव-तिरोभाव का स्वतंत्र रीति से विचार करने पर प्रकट होता है कि अस्तित्व, ज्ञान और हृदय तीनो बातें वल्लभ ने पुरुषोत्तम या ब्रह्म में मानी हैं। मनुष्य में भी ये तीनो बातें—बहुत थोड़े परिमाण में सही-पाई जाती हैं। मनुष्य भी अपने हृदय द्वारा आनन्द का थोड़ा बहुत अनुभव करता है। फिर वल्लभाचार्य्य जी ने जीवात्मा में

---

* पराभिध्यानात् तु तिरोहितं ततोह्यस्य बन्धविपर्य्ययौ (३-२-५)। सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् (४-४-१)।

'आनन्द' को तिरोहित क्यों कहा ? 'आनन्द' से उनका अभिप्राय उस निरपेक्ष आनन्द का है जो ब्रह्मदशा में ही प्राप्त हो सकता है, जब कि जगत् के सारे व्यापार खेल या लीला के रूप में ही दिखाई पड़ने लगते हैं और उनमें से किसी के कारण दुःख का सम्पर्क नही होता। पर जीवात्मा में 'सत्' और 'चित्' का जो अनावृत होना उन्होंने कहा है वह पूर्ण अनावरण या प्रकाश नहीं कहा जा सकता। 'सत्' और 'चित्' का अंशतः प्रकाश ही ब्रह्मांश जीव में कहा जा सकता है। अतः उसमें 'आनन्द' का भी अंशतः प्रकाश मानने में कोई बाधा नही प्रतीत होती। उपर्युक्त ब्रह्मदशा के निरपेक्ष आनन्द के ढंग का आनन्द भी जीव को भगवान् की लीला, मनोहर काव्य आदि के श्रवण से प्राप्त होता देखा जाता है। इस दृष्टि से सत्, चित् और आनन्द तीनो का अंशतः प्रकाश मनुष्य में कहा जाय तो असंगत न होगा।

यहाँ तक तो संक्षेप में वल्लभाचार्य्य जी के दार्शनिक सिद्धान्त का उल्लेख हुआ। अब उनके साधन-मार्ग या भक्तिमार्ग का थोड़ा वर्णन आवश्यक प्रतीत होता है। जिस प्रकार दर्शन के क्षेत्र में उनका सिद्धान्त 'शुद्धाद्वैतवाद' कहलाता है उसी प्रकार भक्ति के क्षेत्र मे उनका साधन-मार्ग 'पुष्टिमार्ग' कहलाता है। भागवत में एक स्थल पर आया है कि "पोषणं तदनुग्रहः"। इसी वाक्य के आधार पर वल्लभ ने अपने मार्ग का नाम 'पुष्टिमार्ग' रखा। 'कृष्णाश्रय' नामक अपने एक प्रकरण-ग्रन्थ में आचार्य्य जी ने देश-काल की अत्यन्त विपरीत दशा का वर्णन

किया है जिसमें वेदमार्ग या मर्य्यादा-मार्ग का अनुसरण उन्हें अत्यन्त कठिन या असम्भव दिखाई पड़ा। वल्लभाचार्य्य जी के समय में देश में मुसलमानी साम्राज्य अच्छी तरह दृढ़ हो चुका था। हिन्दुओं का एकमात्र स्वतन्त्र और प्रभावशाली राज्य दक्षिण का विजयनगर राज्य रह गया था; पर बहमनी सुलतानों के पड़ोस में रहने के कारण उसके दिन भी गिने हुए दिखाई पड़ते थे। इसलामी संस्कृति का प्रभाव अच्छी तरह जम रहा था। सूफी भक्तों या पीरों के द्वारा सूफी पद्धति की भक्ति का प्रचार-कार्य्य चल रहा था।

इस परिस्थिति में भागवत की प्रेम-लक्षणा भक्ति के प्रचार द्वारा ही लोगों के कल्याण-मार्ग की ओर आकर्षित होने और साथ ही भारतीय संस्कृति के बने रहने की सम्भावना आचार्य्य जी को दिखाई पड़ी। उन्होंने अपने 'पुष्टिमार्ग' का प्रचार किया। भगवान् का अनुग्रह ही जीव का असली पोषण या पुष्टि है जिससे उसके हृदय में भक्ति का संचार होता है। हृदय पर प्रभाव उत्पन्न हुए बिना, धर्म-स्वरूप भगवान् की विभूति में हृदय लगे बिना, अन्तःप्रकृति को वह पुष्टता नहीं प्राप्त हो सकती जिसके बल से कल्याण-पथ की ओर मनुष्य बराबर चला चल सकता है। जिसमें भक्ति दिखाई पड़े उसके सम्बन्ध में समझ लेना चाहिए कि उसे भगवान् का अनुग्रह अर्थात् पोषण प्राप्त है।

'पुष्टिमार्ग' स्त्री-पुरुष, द्विज-शूद्र सब के लिए खुला है। मनुष्य मात्र इसके अधिकारी हैं। इस भक्तिमार्ग में परमात्मा

का स्वरूप तो वही लिया गया है जो उपनिषदों के ज्ञानकांड में प्रतिपादित है, पर साधना का आधार शुद्ध प्रेम रखा गया है जो भगवान् के अनुग्रह या पोषण से प्राप्त होता है तथा जिससे भगवान् का अनुग्रह या पोषण प्राप्त होता है। भगवान् के स्वरूप के प्रति जितना ही अधिक प्रेम होगा उतना ही लोक और वेद के प्रति आसक्ति कम होगी। बिना प्रेम के भगवान् की जो आराधना होगी वह 'पूजा' मात्र होगी; 'सेवा' न होगी। अतः इस पुष्टिमार्ग में आने के लिए सब से पहली आवश्यक बात यह है कि लोक और वेद दोनो के प्रलोभनों से दूर हो जाय—उन फलों की आकांक्षा छोड़ दे जो लोक का अनुसरण करने से प्राप्त होते हैं तथा जिनकी प्राप्ति वैदिक कर्मों के सम्पादन द्वारा कही गई है। यह तभी हो सकता है जब कि साधक अपने को भगवान् के चरणों में समर्पित कर दे। इसी 'समर्पण' से इस मार्ग का आरम्भ होता है और पुरुषोत्तम भगवान् के स्वरूप का अनुभव और लीला-सृष्टि में प्रवेश हो जाने पर अन्त। बीच में जो मार्ग पड़ता है उसका अनुसरण 'तनुजा' और 'वित्तजा' सेवा द्वारा होता है। इस सेवा द्वारा धीरे धीरे अहन्ता और ममता का नाश हो जाता है और भगवान् के स्वरूप के अनुभव की क्षमता प्राप्त होती है।

वल्लभाचार्य्य जी ने प्राणियों के अनुसरण के तीन मार्ग कहे हैं—पुष्टिमार्ग, प्रवाहमार्ग और मर्य्यादा-मार्ग। इनमें से भक्ति-मार्ग ही 'पुष्टिमार्ग' है। केवल वेद-प्रतिपादित कर्म और ज्ञान

के सम्पादन का मार्ग 'मर्य्यादा-मार्ग' है। संसार या लोक के प्रवाह में पड़ कर लौकिक सुख-भोग के हेतु प्रयत्न करते रहना 'प्रवाहमार्ग' है *। इनमें से पुष्टिमार्ग ही प्रशस्त मार्ग है। जिसे भगवान् का पोषण या अनुग्रह प्राप्त हो जाता है वह इस मार्ग पर आता है। वह आत्मकल्याण के लिए अपने कर्मों या अपने ज्ञान का भरोसा नहीं रखता, केवल भगवान् के अनुग्रह का भरोसा रखता है। उसकी भीतरी आस्था न लोक पर होती है, न वेद पर; केवल भगवत्स्वरूप पर होती है। वेद में मनुष्य की वाणी में प्रतिध्वनित भगवान् के केवल 'शब्द' हैं—आड़ में खड़े हो कर किए हुए आदेश या उपदेश हैं कि ऐसा करोगे तो ऐसा फल मिलेगा। फल का भरोसा देनेवाले कर्मों के अनुष्ठान में हृदय का जो योग रहता है वह फल की ओर उन्मुख रहता है। उपनिषदों में आ कर परमात्मा के उस स्वरूप का परिचय या निश्चय कराया गया है जिसकी उपासना हो सकती है। उसी स्वरूप पर जिसका प्रेम हो जाता है वह भक्तिमार्ग का अनुसरण करता है। भक्त जो भजन या कीर्त्तन करता है वह केवल प्रेम की प्रेरणा से; किसी फल की आशा से, या वेद की आज्ञा से नहीं।

उपर्युक्त तीन मार्गों के अनुरूप ही जीव भी तीन प्रकार के कहे गए हैं—पुष्टि-जीव, मर्य्यादा-जीव और प्रवाह-जीव।

---

* अत्रैवं स्वरूपनिश्चायनेन यावन्तः पुष्टिप्रयुक्ता मार्गा भक्तिरूपास्ते पुष्टिमार्गेऽन्तर्भवन्ति ; ये लौकिका· सर्ग-परम्परा न विच्छन्दन्ति ते प्रवाहेऽन्तर्भवन्ति, ये वेदनियमं नातिवर्त्तन्ते ते मर्य्यादामन्तर्भवन्ति।

पुष्टि-जीव का लक्षण यह है कि वह केवल भगवान् के अनुग्रह का भरोसा रखता है। मर्य्यादा-जीव वेद की विधियों पर भरोसा रखते हैं। प्रवाह-जीव सांसारिक सुखों की प्राप्ति में ही लगे रहते हैं। जीवों में यह भेद उत्पत्ति-भेद से होता है। पुष्टि-सृष्टि सच्चिदानन्द के काय (शरीर) या आनन्द-शृंग से होती है, मर्य्यादा-सृष्टि 'वचस्' से और प्रवाह-सृष्टि मन से। पुष्टि-सृष्टि आनन्दांश-प्रधान होती है, मर्य्यादा-सृष्टि चिदंश-प्रधान और प्रभाव-सृष्टि संदश-प्रधान। पुष्टि-जीव शुद्ध भगवत्प्रेम से प्रेरित होते हैं, मर्य्यादा-जीव वेद में कहे हुए परमेश्वर के 'शब्द' से और प्रवाह-जीव परमेश्वर के मन या संकल्प से। प्रवाह-जीव जन्म और मरण के चक्र में पड़े रहते हैं; मर्य्यादा-जीव वैदिक मोक्ष प्राप्त करते हैं और पुष्टि-जीव पुरुषोत्तम भगवान् की लीला-सृष्टि में प्रवेश करते हैं।

'पुष्टि-प्रवाह-मर्य्यादा' नामक प्रकरण-ग्रन्थ में वल्लभाचार्य्य जी ने प्रवाह-जीवों को 'असुर' कहा है और उनके दो भेद किए हैं—दुर्ज्ञ और अज्ञ। असली असुर दुर्ज्ञ ही हैं। अज्ञ लोग केवल दुर्ज्ञों का अनुसरण करते हैं। उनका असुरत्व बाहरी होता है और अच्छा संस्कार प्राप्त होने पर दूर हो सकता है। पर दुर्ज्ञों की अन्तःप्रकृति ही आसुरी होती है। वे मायिक होते हैं और माया में ही जा कर लीन होते हैं।

उक्त चार प्रकार के जीवों के अतिरिक्त आचार्य्य जी ने एक प्रकार के और जीव ठहराए हैं जिन्हें उन्होंने सम्बन्धि-जीव कहा

है। उनका कोई स्थिर स्वरूप नहीं होता। वे बराबर डवाँडोल रहते हैं। वे वास्तव में उक्त चार प्रकार के जीवों में से किसी की श्रेणी में नही होते। जब जिस प्रकार के जीव के सम्पर्क में वे पड़ जाते हैं तब उस प्रकार के जीव वे हो जाते हैं।

पुष्टि-जीव कभी कभी प्रवाह और मर्य्यादा में भी पड़ जाते हैं। उस दशा में वे मिश्र-पुष्टिजीव कहलाते हैं। पुष्टि-सम्पन्न होने के कारण प्रवाह और मर्य्यादा में पड़ जाने पर भी उनका अकल्याण नहीं होता। उनकी परिनिष्ठा भगवान् में ही होती है अतः वे लौकिक और वैदिक कर्मों का जो सम्पादन करते हैं वह विना आस्था के। उनकी वैष्णवता सहज या स्वाभाविक होती है। यद्यपि विशेष परिस्थिति में पड़ जाने के कारण वे अनेक प्रकार के व्यापार करते पाए जाते हैं पर उनका चरम साध्य 'भगवत्प्रपत्ति' ही होती है।

पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही सूर्य्य, चन्द्र, देवता, पृथ्वी इत्यादि के भीतर 'अन्तर्यामी' स्वरूप में सारे विश्व का परिचालन करते हैं। विश्व की तह में (Immanent) रह कर उसका परिचालन करनेवाला 'अन्तर्यामी' ही पृथ्वी पर नाना अवतार लिया करता है। पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण का दिव्य सत्त्वगुण ही विष्णु हो कर सब लोकों की रक्षा करता है। इसी प्रकार उनमें दिव्य रजोगुण और तमोगुण ब्रह्मा और रुद्र हो कर लोकों की सृष्टि और संहार किया करते हैं।

श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं। वे ही सब दिव्य गुणों से सम्पन्न हो कर 'पुरुषोत्तम' कहलाते हैं। उनका शरीर सत्-चित्-आनन्द-मय है। उनकी सब लीलाएँ नित्य हैं। वे अपने चतुर्भुज या द्विभुज रूप में अपने भक्तों के साथ अनेक प्रकार की क्रीड़ाएँ व्यापी-वैकुंठ में, जो विष्णु के वैकुंठ से ऊपर है, किया करते हैं। इसमें नित्य रूप में वृन्दावन, यमुना, अनेक प्रकार के निकुंज इत्यादि हैं। गोलोक इसी 'व्यापी'-वैकुंठ का एक खंड है। जिन भक्तों में भक्ति परमावस्था को पहुँच जाती है, जिनका भगवत्प्रेम व्यसन के रूप में हो जाता है उन्हें उस व्यापी-वैकुंठ में भगवान् अनेक क्रीड़ाएँ करनेवाले श्रीकृष्ण के रूप में प्रकट होते हैं। भगवान् का यह कृष्ण-स्वरूप ही 'परमानन्द-स्वरूप' है। श्रीकृष्ण अपनी इच्छा से सत्स्वरूप को प्रधान कर देते हैं और अक्षर हो कर सृष्टि के मूल कारण होते हैं। 'अक्षर ब्रह्म' दो प्रकार का है। एक तो वह जिसे भक्तजन पुरुषोत्तम धाम कहते हैं और जो व्यापी-वैकुंठ के रूप में प्रकाशित रहता है। दूसरा उसी का वह रूप जो ज्ञानियों को प्राप्त होता है और उन्हें सच्चिदानन्द, स्वयंप्रकाश, अनादि, अनन्त, निर्गुण और निर्विशेष प्रतीत होता है। यह दूसरा रूप केवल आविर्भाव-तिरोभाव की अचिन्त्य शक्ति से प्रतीत होता है जिसके कारण परमात्मा के दिव्य गुण आवृत या तिरोहित रहते हैं। ब्रह्म जब निर्गुण, निर्विशेष आदि कहा जाता है तब उसका यही तात्पर्य्य समझना चाहिए। इस प्रकार परमात्मा के तीन रूप ठहरते हैं—पुरुषो-

त्तम जिसमें आनन्दांश का पूर्ण आविर्भाव रहता है तथा उक्त दो प्रकार के अक्षर ब्रह्म।

ऊपर के विवरण में भक्तों की परम गति और ज्ञानियों की परम गति या मोक्ष का भेद बताया गया है। उसमें इस बात का स्पष्ट संकेत किया गया है कि भक्त अपनी साधना पूर्ण कर के जिस स्वरूप के मेल में हो जाता है वही आनन्द-प्रधान रूप ब्रह्म का असली और श्रेष्ठ रूप है। ज्ञानी जिस कैवल्य-दशा को प्राप्त करता है, वह ब्रह्म का अंशतः तिरोहित रूप है। यहाँ पर वल्लभाचार्य जी निर्गुण-निर्विशेषवादी ज्ञानियों से पूरा बदला लेते हुए दिखाई पड़ते हैं। ज्ञानमार्गियों ने ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप को ही पारमार्थिक या असली स्वरूप कहा है और सगुण स्वरूप को व्यावहारिक या मायिक। आचार्य्य जी ने बात उलट कर सगुण स्वरूप को ही असली और श्रेष्ठ स्वरूप बताया है और निर्गुण स्वरूप को उसी का अशंतः तिरोहित रूप। वल्लभाचार्य्य जी के अनुसार आनन्दांश-प्रधान रूप ही ब्रह्म का असली रूप है जिसके मेल में हो कर पुष्टि-जीव नित्य लीला-सृष्टि में प्रवेश करता है और लीला में योग दे कर पुरुषोत्तम-स्वरूप की सेवा करता है। पुष्टि-जीवों की उत्पत्ति इसी स्वरूप-सेवा के लिए ही होती है। जिस प्रकार पुरुषोत्तम भगवान् में सत्, चित् और आनन्द तीनों का आविर्भाव रहता है उसी प्रकार पुष्टिमार्गी भक्त भी, भगवान् के 'काय' या आनन्द-स्वरूप से उत्पन्न होने के कारण उनके ही समान 'अ-तिरोहित-सच्चिदानन्द-स्वरूप' प्राप्त करता है

और 'लीला-सृष्टिस्थ' हो जाता है। जिस प्रकार भगवान् प्रकृति के सत्त्वगुण में अधिष्ठित हो कर इस संसार में अवतार लेते हैं उसी प्रकार पुष्टि-जीव जब तक संसार में रहता है सत्त्वस्थ रहता है। मतलब यह कि वह हर तरह से भगवान् के साथ उनकी लीला में योग देने योग्य हो जाता है। उपनिषदों में जो 'एकोऽहं बहु स्याम्', 'स एकाकी न रमते', 'स द्वितीयमैच्छत्', इत्यादि वाक्य हैं, भक्तिमार्ग के अनुसार, वे ऐसे ही जीवों के साथ क्रीड़ा करने की इच्छा सूचित करते हैं।

पुष्टि-भक्ति भी चार प्रकार की कही गई है—प्रवाह-पुष्टि-भक्ति, मर्यादा-पुष्टिभक्ति, पुष्टि-पुष्टिभक्ति और शुद्ध-पुष्टिभक्ति। इनमें से प्रथम मार्ग पर वे कहे जा सकते हैं जो संसार के प्रवाह में पड़े 'मैं' और 'मेरा' करते रहते हुए भी ऐसे कर्म करते जाते हैं जिनसे भगवान् की प्राप्ति हो सकती है। दूसरा मार्ग उन लोगों का समझना चाहिए जो संसार के विषय-भोग से अपना मन हटा कर अपनी इन्द्रियों को वश में रखते हुए भगवान् की लीला के श्रवण-कीर्त्तन आदि द्वारा अपने को भगवान् की ओर लगाते हैं। तीसरा मार्ग उन पहले से पुष्टि-प्राप्त लोगों का है जो और अधिक पुष्टि (अनुग्रह) पा कर भक्ति का सहगामी ज्ञान अर्जित करने की योग्यता सम्पादित करते हैं। वे तत्त्वचिन्तन के प्रयास द्वारा क्रमशः भगवान् के नाना विधानों को समझ जाते हैं। उन्हें ज्ञान-प्राप्ति के निमित्त बुद्धि-प्रयत्न करना पड़ता है। चौथे प्रकार की शुद्ध-पुष्टिभक्ति जिनमें होती है वे केवल भगवान् के प्रेम

में मग्न रहते हैं। भगवान् का भजन-कीर्त्तन उनका एक व्यसन हो जाता है। किसी प्रकार का बुद्धि-प्रयत्न वे नहीं करने जाते।

जिस पर भगवान् का अनुग्रह (पोषण) होता है पहले तो उसकी भगवान् की ओर प्रवृत्ति होती है, भगवान् उसे अच्छे लगते हैं। फिर वह अपनी बुद्धि द्वारा ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने में लगता है। ज्ञान प्राप्त करने पर उसमें प्रेम-लक्षणा-भक्ति का उदय होता है। इस प्रेमभक्ति की क्रमशः चार भूमियाँ या अवस्थाएँ होती हैं—प्रेम, आसक्ति और व्यसन। व्यसन ही प्रेम की सब से परिपुष्ट दशा है। इसी व्यसन द्वारा पुष्टि-जीव 'परमानन्द' की ओर अग्रसर होता है। वह चारो प्रकार की मुक्तियों का तिरस्कार कर देता है और भगवान् की नित्य सेवा को ही अपना परम साध्य मानता है। इसी व्यसन के प्रभाव से भगवान् उसे चारो ओर दिखाई पड़ते हैं। वह भीतर और बाहर सर्वत्र पुरुषोत्तममय देखता है। अतः संसार की सब वस्तुएँ उसे अपनी सगी समझ पड़ती हैं और सब के साथ वह प्रेमभाव रखता है।

वल्लभाचार्य्य जी के दार्शनिक और भक्तिसम्बन्धी सिद्धान्तों का उल्लेख हो चुका। उनके सम्प्रदाय की पूजा या सेवा की पद्धति के सम्बन्ध में यह समझ लेना चाहिए कि वह अत्यन्त आडंबर-पूर्ण है। यज्ञ-यागादि कर्मों के लम्बे चौड़े बाह्य विधान के स्थान पर भावयज्ञ के रूप में भक्तिमार्ग का प्रवर्त्तन हुआ था पर इस सम्प्रदाय के ठाकुर जी की सेवा का

विधान उससे भी बढ़ कर लम्बा चौड़ा हो गया, जिसमें बहुत धन और सुख-भोग की प्रचुर सामग्री अपेक्षित होती है। इस सम्प्रदाय के शिष्यों के लिए अपने आचार्य्य या गोसाईं के मन्दिर में ही जा कर दर्शन और आराधन करना चाहिए। इस सम्प्रदाय के मन्दिरों में बराबर भोग-विलास की सामग्री का प्रदर्शन होता रहता है तथा एक न एक उत्सव लगा रहता है जिसमें चमक-दमक, सजावट, नाच-रंग का कुतूहल 'बलिहारी है' कहनेवाले बहुत से स्त्री-पुरुषों को आकर्षित करता है। इस सम्प्रदाय के जो मुख्य मुख्य स्थान हैं उनकी बड़ाई यही सुनाई पड़ती है कि "वहाँ केसर की चक्कियाँ चलै हैं"। सारांश यह कि इस सम्प्रदाय की सेवा-पूजा, आचार-व्यवहार, बातचीत सब में भोगवासना (Epicureanism) का आभास रहता है।

इस 'पुष्टि-मार्ग' की सामान्य प्रवृत्ति विषय-भोग के त्याग या निवृत्ति की ओर नहीं दिखाई पड़ती। इसी प्रकार धर्म या शील के पालन पर भी वैसा ज़ोर इसमें नहीं दिया गया है। ऊपर जो चार प्रकार की पुष्टिभक्ति कही गई हैं उनमें संसार के विषय-भोग से मन हटा कर अपनी इन्द्रियों और आचरण को वश में रखनेवालों को तीसरा स्थान दिया गया है। यह बात तो ठीक है कि भक्ति केवल हृदय की पद्धति है अतः भक्त के मन, वचन और कर्म में जो कुछ शुभवृत्ति हो वह हृदय के द्वारा स्वतः प्रेरित होनी चाहिए, धर्म-शासन के प्रतिबन्ध के रूप में ज़बरदस्ती लाई हुई नहीं। पर भक्त का जीवन इसी लोक के भीतर व्यतीत

होता है अतः उसके जीवन में पवित्रता का आभास अवश्य होना चाहिए। जिस भक्ति की उच्च दशा में उच्चतम शील या सदाचार का अन्तर्भाव न हो वह लोक की रक्षा, पालन और पोषण करनेवाले भगवान् की भक्ति कैसे कही जा सकती है? जो हृदय किसी पीड़ित की रक्षा के लिए, किसी जनसमुदाय के सुख-सन्तोष-विधान के लिए, अपना सब सुख, अपना सर्वस्व, अपना प्राण तक अर्पित करने के लिए तैयार न कर दे वह हृदय भक्त-हृदय कैसे कहा जा सकता है?

मर्य्यादा के अतिक्रमण का अर्थ इतना ही है कि भक्त का आचरण हृदय-प्रेरित होने के कारण स्वच्छन्द होता है। जो कुछ वह करता है शास्त्र की आज्ञा के दबाव से नहीं, अपनी इच्छा से करता है। पर भक्ति के प्रभाव से उसकी इच्छा मंगलेच्छा हो जाती है। उसे आप से आप ऐसे ही कर्मों की इच्छा होती है जिनका संसार भर के धर्म-मार्ग अनुमोदन करते हैं। मर्य्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र के परम भक्त गो० तुलसीदास जी ने इस मंगलेच्छा को भक्ति प्राप्त हो जाने का लक्षण बताया है। उन्होंने कहा है कि

तुम अपनायो, तब जानिहौं जब मन फिरि परिहै।

तुलसी के अनुसार शील का प्रकृतिस्थ हो जाना ही भक्ति का लक्षण है। इसी के द्वारा भक्त पहचाने जा सकते हैं।

पुष्टि-मार्ग में स्पष्ट रूप से 'शील' और 'त्याग' का अन्तर्भाव उच्चकोटि की भक्ति में न करने से और उन्हें तीसरी श्रेणी में

रखने से भ्रम के लिए बहुत जगह रह गई। भक्ति को 'मर्य्यादा' के परे रख कर भी यदि वे बातें जिनके लिए लोक और वेद या धर्म की मर्य्यादा बाँधी गई है शुद्ध भाव-क्षेत्र के भीतर ले ली जातीं तो किसी प्रकार की अव्यवस्था न उत्पन्न होती। ऐसा न होने से इस बात की सम्भावना पूरी पूरी रह गई है कि इस मार्ग के अनुयायी 'मर्य्यादा' के उल्लंघन का अर्थ शील और सदाचार का उल्लंघन समझें। जब हम इस मार्ग में गृहीत उपास्य के स्वरूप की ओर ध्यान देते हैं तब तो यह सम्भावना पूर्ण आशंका के रूप में आ जाती है। जैसा कि हम पहले दिखा आए हैं भक्ति के लिए भगवान् कृष्ण की केवल बालक्रीड़ा और यौवन-लीला ही ली गई है। उनका धर्म की स्थापना-वाला रूप—जो गीता के अनुसार प्रधान स्वरूप है—नहीं लिया गया है। भगवान् का वह स्वरूप जिससे हृदय की उच्च और उदात्त वृत्तियों का रंजन होता है, पीछे डाल देने से हृदय के लिए उच्च भूमि पर पहुँचने का परिष्कृत अभ्यास-पथ न निकल सका। अतः सामान्य जनता के हृदय पर केवल भोग-विलास, क्रीड़ा-कुतूहल का संस्कार जम सकता है। परलोक में भी भक्तों के लिए इसी ढंग की लीला अखंड और नित्य रूप में कर के रखी गई है। इस प्रकार यहाँ से वहाँ तक क्रीड़ा, खेल, मनो-रंजन इत्यादि की हलकी वृत्ति ही सामने पा कर जीवन के व्यापक और गम्भीर लक्ष्य की ओर दृष्टि कैसे जा सकती है?

[[1]लौकिक क्रीड़ा या लीला को] वल्लभाचार्य्य जी ने 'आनन्द' का लक्षण माना है और [इस क्रीड़ा या लीला का जिस रूप में] पूर्ण आविर्भाव हो उसे ब्रह्म का असली या पारमार्थिक [रूप कहा है। यह बताया जा चुका] है कि शंकराचार्य्य जी ने ब्रह्म को चित्स्वरूप कह कर 'ज्ञान' [को उसका पारमार्थिक] स्वरूप कहा था, पर वल्लभाचार्य्य जी ने 'हृदय' को प्रधानता दी। हृदय-पक्ष पर जोर देना तो भक्तिमार्ग के लिए बहुत ही आवश्यक है। उपास्य में हृदय मान कर ही प्रेम किया जा सकता है। पर क्रीड़ा या लीला का लौकिक स्वरूप लेकर उसी को ब्रह्म की लीला या क्रीड़ा के रूप में रखना ब्रह्म के 'आनन्द' स्वरूप को बहुत परिमित करना है। जिन व्यापारों को मनुष्य क्रीड़ा या लीला मानता है—जैसे स्त्री-पुरुष का हास-विलास, नाच-रंग, लुकना-छिपना इत्यादि—उन्ही व्यापारों तक ब्रह्म की लीला नही कही जा सकती। ब्रह्म की विराट् लीला है। सारा विश्व-व्यापार ब्रह्म की लीला है। यह कहा जा चुका है कि जगत्प्रवाह नित्य और अखंड है। यह सम्पूर्ण जगत्प्रवाह ब्रह्म के रक्षण, पालन और रंजन से चल रहा है। अतः ये तीनो ब्रह्म की लीला के अन्तर्गत हैं; केवल रंजन ही नहीं।

यह कहा जा चुका है कि लोक के रक्षण और पालन में ब्रह्म अपने 'सत्' स्वरूप का प्रकाश करता है और रंजन द्वारा अपने

[1] [अंतिम पृष्ठ का बाँयाँ कोना ऊपर की ओर से फटकर निकल गया है। बड़े कोष्ठकों के बीच की पदावली अनुमित है।]

'आनन्द' स्वरूप का। 'आनन्द' स्वरूप को 'सत्' स्वरूप से विच्छिन्न नहीं कर सकते। गीता में जिस भक्ति का उपदेश है, वह 'सदानन्द' स्वरूप को ले कर चलनेवाली भक्ति है। राम-भक्ति-शाखा में भी 'सदानन्द' स्वरूप लिया गया है। पर जितने कृष्णोपासक सम्प्रदाय चले सब 'आनन्द' की सिद्धावस्था या उपभोग-पक्ष को ही ले कर चले। आनन्द की साधनावस्था, जिसमें 'असत्' के बीच से 'सत्' अपना प्रकाश करता है, उनमें नहीं ली गई है। कृष्ण-भक्त अपने उपास्य को केवल प्रेमक्रीड़ा के एकान्त क्षेत्र में रख कर देखना चाहते हैं। लोक के बीच उनके रक्षक और पालक स्वरूप के प्रति आकर्षित होने का अभ्यास वे नहीं करते। इस स्वरूप की ओर पूर्णतया आकर्षित हुए बिना भक्त भगवान् के स्वरूप के मेल में नहीं आ सकता और भगवान् की लीला में योग देनेवाला नही कहा जा सकता। जो अपना सारा पराक्रम अत्याचार-पीड़ितों की रक्षा में, अपना सारा वित्त दीनों के पालन-पोषण में, अपना सारा शरीर लोक की सेवा में अर्पित कर देते हैं वे ही यथार्थ में भगवान् की विराट् लीला में योग देनेवाले सच्चे सखा और सेवक हैं। रामभक्ति के क्षेत्र में हनुमान् इसी प्रकार के भक्त हैं।

× × × ×

भक्ति की साधना के लिए वल्लभ ने उसके 'श्रद्धा' के अवयव को छोड़ कर जो 'महत्त्व की भावना में मग्न करता है, केवल 'प्रेम' लिया। प्रेमलक्षणा भक्ति ही उन्होंने ग्रहण की।

'चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता' में सूरदास की एक वार्त्ता के अंतर्गत प्रेम को ही मुख्य और श्रद्धा या पूज्य-बुद्धि को आनुषंगिक या सहायक कहा है—

"श्री आचार्य्य जी महाप्रभुन के मार्ग को कहा स्वरूप है? माहात्म्य-ज्ञानपूर्वक सुदृढ़ स्नेह की तो परम काष्ठा है। स्नेह आगे भगवान् को रहत नाही ताते भगवान् वेर वेर माहात्म्य जनावत है। ×××× इन ब्रजभक्तन को स्नेह परमकाष्ठापन्न है। ताही समय तो माहात्म्य रहे, पीछे विस्मृत होय जाय"।

वल्लभ-संप्रदाय में जो उपासना-पद्धति या सेवा-पद्धति ग्रहण की गई उसमें भोग-राग तथा विलास की प्रभूत सामग्री के प्रदर्शन की प्रधानता रही। भोग-विलास के इस आकर्षण का प्रभाव सेवक-सेविकाओं पर कहाँ तक अच्छा पड़ सकता था। जनता पर चाहे जो प्रभाव पड़ा हो पर उक्त गद्दी के भक्त शिष्यों ने सुन्दर सुन्दर पदों द्वारा जो मनोहर प्रेम-संगीत-धारा बहाई उसने मुरझाते हुए हिंदू-जीवन को सरस और प्रफुल्ल किया। इस संगीत-धारा में दूसरे संप्रदायों के कृष्ण-भक्तों ने भी पूरा योग दिया।

सब संप्रदायों के कृष्ण-भक्त भागवत में वर्णित कृष्ण की ब्रजलीला को ही ले कर चले क्योंकि उन्होंने अपनी प्रेमलक्षणा भक्ति के लिए कृष्ण का मधुर रूप ही पर्याप्त समझा। महत्त्व की भावना से उत्पन्न श्रद्धा या पूज्य-बुद्धि का अवयव छोड़ देने के कारण कृष्ण के लोक-रक्षक और धर्म-संस्थापक स्वरूप को सामने

रखने की आवश्यकता उन्होंने न समझी। भगवान् के धर्मस्वरूप को इस प्रकार किनारे रख देने से उसकी ओर आकर्षित होने और आकर्षित करने की प्रवृत्ति का विकास कृष्ण-भक्तों में न हो पाया। फल यह हुआ कि कृष्ण-भक्त कवि अधिकतर फुटकल शृंगारी पदों की रचना में ही लगे रहे। उनकी रचनाओं में न तो जीवन के अनेक गम्भीर पक्षों के मार्मिक रूप स्फुरित हुए, न अनेकरूपता आई। श्रीकृष्ण का इतना चरित ही उन्होंने न लिया जो खंडकाव्य, महाकाव्य आदि के लिए पर्याप्त होता। राधाकृष्ण की प्रेमलीला ही सब ने गाई।

भागवत धर्म का उदय यद्यपि महाभारत-काल में ही हो चुका था और अवतारों की भावना देश में बहुत प्राचीन काल से चली आती थी पर वैष्णव धर्म के साम्प्रदायिक स्वरूप का संघटन दक्षिण में ही हुआ। वैदिक परंपरा के अनुकरण पर अनेक संहिताएँ, उपनिषद्, सूत्रग्रन्थ इत्यादि तैयार हुए। श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण के मधुर रूप का विशेष वर्णन होने से भक्तिक्षेत्र में गोपियों के ढंग के प्रेम का, माधुर्य्य भाव का, रास्ता खुला। इसके प्रचार में दक्षिण के मन्दिरों की देवदासी-प्रथा विशेष रूप में सहायक हुई। माता-पिता लड़कियों को मन्दिरों में चढ़ा आते थे जहाँ उनका विवाह भी ठाकुर जी के साथ हो जाता था। उनके लिए मन्दिर में प्रतिष्ठित भगवान् की उपासना पति-रूप में विधेय थी। इन्ही देवदासियो में कुछ प्रसिद्ध भक्तिनें भी हो गई हैं।

दक्षिण में अंदाल इसी प्रकार की एक प्रसिद्ध भक्तिन हो गई है। जिनका जन्म संवत् ७७३ में हुआ था। अंदाल के पद द्रविड़ भाषा में 'तिरुप्पावइ' नामक पुस्तक में मिलते हैं। अंदाल एक स्थल पर कहती हैं—"अब मैं पूर्ण यौवन को प्राप्त हूँ और स्वामी कृष्ण के अतिरिक्त और किसी को अपना पति नही बना सकती"। इस भाव की उपासना यदि कुछ दिन चले तो उसमें गुह्य और रहस्य की प्रवृत्ति हो ही जायगी। रहस्यवादी सूफियों का उल्लेख ऊपर हो चुका है जिनकी उपासना भी 'माधुर्य्य भाव' की थी। मुसलमानी जमाने में इन सूफियों का प्रभाव देश की भक्ति-भावना के स्वरूप पर बहुत कुछ पड़ा। 'माधुर्य्य भाव' को प्रोत्साहन मिला। माधुर्य्य भाव की जो उपासना चली आ रही थी उसमें सूफियों के प्रभाव से 'आभ्यंतर मिलन', 'मूर्छा', 'उन्माद' आदि की भी रहस्यमयी योजना हुई। मीरा-बाई और चैतन्य महाप्रभु दोनो पर सूफियों का प्रभाव पाया जाता है।

सूरदास
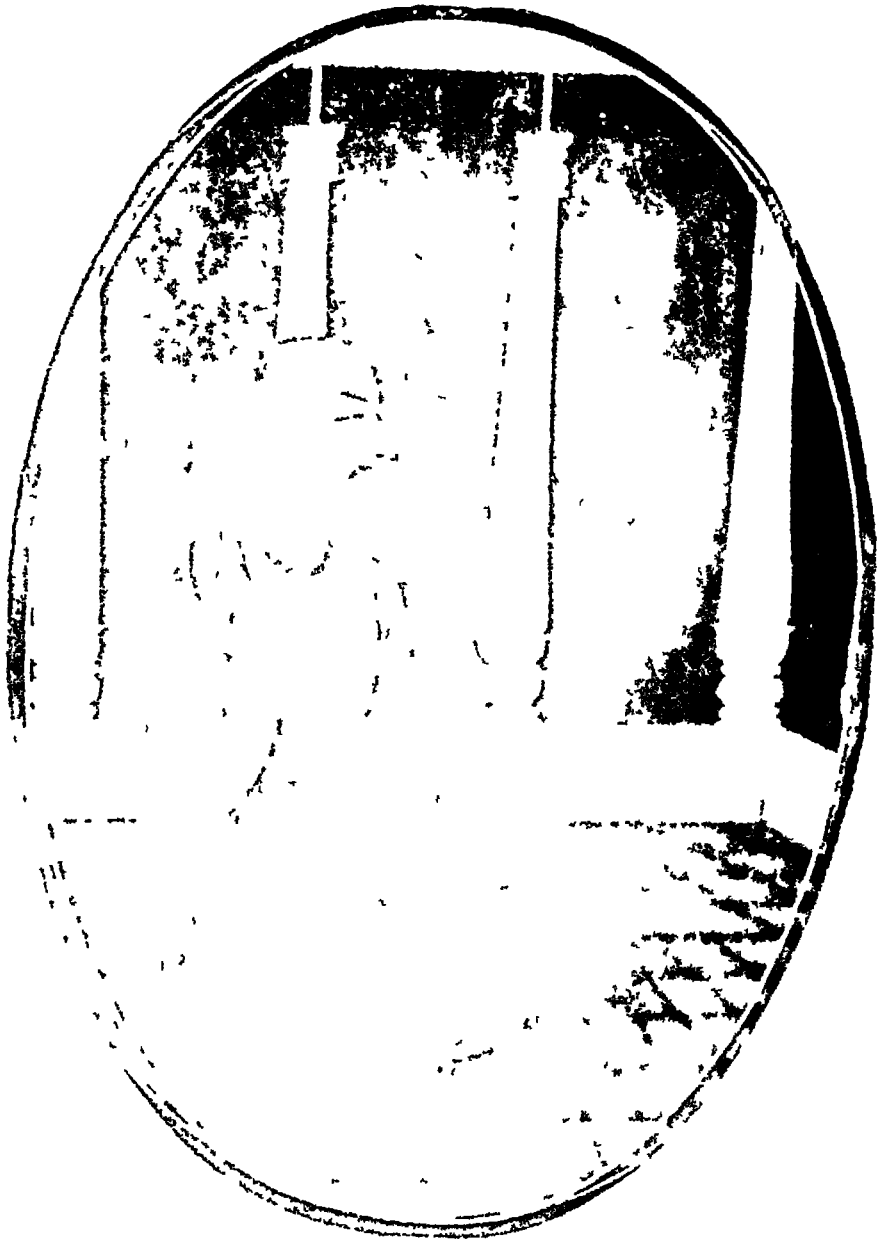
सूरदास

जीवनवृत्त

सूरदास जी का वृत्त 'चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता' से केवल इतना ज्ञात होता है कि वे पहले गऊघाट (आगरे और मथुरा के बीच) पर एक साधु या स्वामी के रूप में रहा करते थे और शिष्य किया करते थे। गोवर्द्धन पर श्रीनाथ जी का मन्दिर बन जाने के पीछे एक बार जब वल्लभाचार्य जी गऊघाट पर उतरे तब सूरदास उनके दर्शन को आए और उन्हें अपना बनाया एक पद गा कर सुनाया। आचार्य्य जी ने उन्हें अपना शिष्य किया और भागवत की कथाओं को गाने योग्य पदों में करने का आदेश दिया। उनकी सच्ची भक्ति और पद-रचना की निपुणता देख वल्लभाचार्य्य जी ने उन्हें अपने श्रीनाथ जी के मन्दिर की कीर्त्तनसेवा सौंपी। इस मन्दिर को पूरनमल खत्री ने गोवर्द्धन पर्वत पर संवत् १५७६ में पूरा बनवा कर खड़ा किया था। मन्दिर पूरा होने के ११ वर्ष पीछे अर्थात् संवत् १५८७ में वल्लभाचार्य्य जी की मृत्यु हुई।

श्रीनाथ जी के मन्दिर-निर्माण के थोड़ा ही पीछे सूरदास जी वल्लभ-सम्प्रदाय में आए, यह 'चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता' के इन शब्दों से स्पष्ट हो जाता है—

"औरहु पद गाए तब श्री महाप्रभु जी अपने मन में बिचारे जो श्रीनाथ जी के यहाँ और तो सब सेवा को मंडान भयो है, पर कीर्तन को मंडान नाहीं कियो है; तातें अब सूरदास जी को दीजिए"।

अतः संवत् १५८० के आसपास सूरदास जी वल्लभाचार्य्य के शिष्य हुए होंगे और शिष्य होने के कुछ ही पीछे उन्हे कीर्त्तन-सेवा मिली होगी। तब से वे बराबर गोवर्द्धन पर्वत पर ही मन्दिर की सेवा में रहा करते थे, इसका स्पष्ट आभास उनकी 'सूरसारावली' के भीतर मौजूद है। ××× भक्त लोग कभी कभी किसी ढंग से अपने को अपने इष्टदेव की कथा के भीतर डाल कर उनके चरणों तक अपने पहुँचने की भावना करते है। इसी भावना के अनुसार तुलसी और सूर दोनो ने कथा-प्रसंग के भीतर अपने को गुप्त या प्रकट रूप में राम और कृष्ण के समीप तक पहुँचाया है। जिस स्थल पर ऐसा हुआ है वहीं कवि के निवासस्थान का पूरा संकेत भी है। 'रामचरित-मानस' के अयोध्याकांड में वह स्थल देखिए जहाँ प्रयाग से चित्रकूट जाते हुए राम जमुना पार करते हैं और भरद्वाज के द्वारा साथ लगाए हुए शिष्यों को बिदा करते हैं। राम-सीता तट पर के लोगों से बातचीत कर ही रहे हैं कि

तेहि अवसर एक तापस आवा। तेजपुंज लघु वयस सुहावा॥
कवि अलषित-गति बेष बिरागी। मन क्रम वचन राम-अनुरागी॥
सजल नयन तन पुलक निज इष्ट देउ पहिचानि।
परेउ दंड जिमि धरनितल दसा न जाइ बखानि॥

यह तापस एकाएक आता है। कब जाता है, कौन है, इसका कहीं कोई उल्लेख नहीं है। बात यह है कि इस ढंग से कवि ने अपने को ही तापस रूप में राम के पास पहुँचाया है और ठीक उसी प्रदेश में जहाँ के वे निवासी थे अर्थात् राजापुर के पास।

तुलसी ने तो अपने को कुछ प्रच्छन्न रूप में पहुँचाया है, पर सूर ने प्रकट रूप में। यह तो निर्विवाद है कि वल्लभाचार्य्य जी से दीक्षा लेने के उपरान्त सूरदास जी गोवर्द्धन पर श्रीनाथ जी के मन्दिर में कीर्त्तन किया करते थे। अपने सूरसागर के दशम स्कंध के आरम्भ में सूरदास ने श्रीकृष्ण के दर्शन के लिए अपने को ढाढ़ी के रूप में नन्द के द्वार पर पहुँचाया है। कृष्णजन्म के उपरान्त नन्द के घर बराबर आनन्दोत्सव हो रहे हैं। उसी बीच एक ढाढ़ी आ कर कहता है—

नंद जू मेरे मन आनंद भयो, हौं गोवर्द्धन तें आयो।
तुम्हरे पुत्र भयो, मैं सुनि कै अति आतुर उठि धायो॥

❀ ❀ ❀ ❀

जब तुम मदनमोहन करि टेरौ, यह सुनि कै घर जाऊँ।
हौं तो तेरे घर को ढाढ़ी, सूरदास मेरो नाऊँ॥

वल्लभाचार्य्य जी के पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथ के सामने गोवर्द्धन की तलहटी के पारसोली ग्राम में सूरदास की मृत्यु हुई, इसका पता भी उक्त 'वार्त्ता' से लगता है। गोसाईं विट्ठलनाथ की मृत्यु सं० १६४२ में हुई। इसके कितने पहले सूरदास का परलोकवास हुआ, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

'सूरसागर' समाप्त करने पर सूर ने जो 'सूरसागर-सारावली' लिखी है उसमें अपनी अवस्था ६७ वर्ष की कही है—

गुरु-परसाद होत यह दरसन सरसठ बरस प्रवीन।

तात्पर्य्य यह कि ६७ वर्ष के होने के कुछ पहले वे 'सूरसागर' समाप्त कर चुके थे। सूरसागर समाप्त होने के थोड़ा ही पीछे उन्होंने 'सारावली' लिखी होगी। एक और ग्रन्थ सूरदास का 'साहित्य-लहरी' है, जिसमें अलंकारों और नायिका-भेदों के उदाहरण प्रस्तुत करनेवाले कूट पद हैं। इसका रचनाकाल सूर ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

मुनि सुनि रसन के रस लेख।
दसन गौरीनंद को लिखि सुबल संबत पेख॥

इसके अनुसार संवत् १६०७ में 'साहित्य-लहरी' समाप्त हुई। यह तो मानना ही पड़ेगा कि साहित्य-क्रीड़ा का यह ग्रन्थ 'सूरसागर' से छुट्टी पा कर ही सूर ने संकलित किया होगा। उसके दो वर्ष पहले यदि 'सूरसारावली' की रचना हुई तो कह सकते हैं कि संवत् १६०५ मे सूरदास जी ६७ वर्ष के थे। अब यदि उनकी आयु ८० या ८२ वर्ष की मानें तो उनका जन्मकाल

सं० १५४० के आसपास तथा मृत्युकाल सं० १६२० के आसपास ही अनुमित होता है।

'साहित्य-लहरी' के अन्त मे एक पद है जिसमे सूर अपनी वंश-परंपरा देते हैं। उस पद के अनुसार सूर पृथ्वीराज के कवि चन्दबरदाई के वंशज ब्रह्मभट्ट थे। चंद कवि के कुल मे हरीचंद हुए जिनके सात पुत्रों मे सब से छोटे सूरजदास या सूरदास थे। शेष ६ भाई जब मुसलमानों से युद्ध करते हुए मारे गए तब अंधे सूरदास बहुत दिनों तक इधर उधर भटकते रहे। एक दिन वे कुएँ में गिर पड़े और ६ दिन उसी में पड़े रहे। सातवें दिन कृष्ण भगवान् उनके सामने प्रकट हुए और उन्हें दृष्टि दे कर अपना दर्शन दिया। भगवान् ने कहा कि दक्षिण के एक प्रबल ब्राह्मण-कुल द्वारा शत्रुओं का नाश होगा और तू सब विद्याओं में निपुण होगा। इस पर सूरदास ने वर माँगा कि जिन आँखों से मैंने आपका दर्शन किया उनसे अब और कुछ न देखूँ और सदा आपका भजन करूँ। कुएँ से जब भगवान् ने बाहर निकाला तब वे ज्यों के त्यों अंधे हो गए और ब्रज में आ कर भजन करने लगे। वहाँ गोसाईं जी ने उन्हें 'अष्टछाप' में लिया। वह पद यह है—

प्रथम ही प्रथु यज्ञ ते भे प्रगट अद्भुत रूप।
ब्रह्मराव विचारि ब्रह्मा राखु नाम अनूप॥
पान पय देवी दियो सिव आदि सुर सुख पाय।
कह्यो दुर्गा पुत्र तेरो भयो अति अधिकाय॥

पारि पाँयँन सुरन के सुर सहित अस्तुति कीन।
तासु वंस प्रसंस में भौ चंद चारु नवीन॥
भूप पृथ्वीराज दीन्हों तिन्हें ज्वाला देस।
तनय ताके चार कीनो प्रथम आप नरेस॥
दूसरे गुनचंद ता सुत सीलचंद सरूप।
वीरचंद प्रताप पूरन भयो अद्भुत रूप॥
रंथभौर हमीर भूपति सँगत खेलत जाय।
तासु वंस अनूप भो हरिचंद अति विख्याय॥
आगरे रहि गोपचल में रह्यो ता सुत वीर।
पुत्र जनमे सात ताके महा भट गंभीर॥
कृष्णचंद उदारचंद जु रूपचंद सुभाइ।
बुद्धिचंद प्रकाश चौथे चंद भे सुखदाइ॥
देवचंद प्रबोध संसृतचंद ताको नाम।
भयो सप्तो नाम सूरजचंद मंद निकाम॥
[सो समर करि साहि सेवक गए बिधि के लोक।
रहो सूरजचंद दृग ते हीन भरि वर सोक॥
परो कूप पुकार काहू सुनी ना संसार।
सातएँ दिन आइ जदुपति कियो आप उधार॥
दियौ चष दै कही सिसु सुनु माँग बर जो चाइ।
हौं कही प्रभु-भगति चाहत सत्रु-नास सुभाइ॥
दूसरो ना रूप देखौं देखि राधा-स्याम।
सुनत करुना-सिंधु भाषी, एवमस्तु सुदाम॥

प्रबल दच्छिन विप्रकुल ते सत्रु ह्वैहै नास।
अमित बुद्धि विचारि बिद्यावान माने मास॥
नाम राखे मोर सूरजदास सूर सुस्याम।
भए अंतर्धान बीते पाछली निसि याम॥
मोहि पन सो इहै ब्रज की बसे सुख चित थाप।
थपि गोसाई करी मेरी आठ मद्धे छाप॥
विप्र है प्रथ जागते को भाव पूर निकाम।
'सूर' है नँदनंद जू को लियो मोल गुलाम॥]

हमारा अनुमान है कि 'साहित्य-लहरी' में यह पद पीछे किसी भाट के द्वारा जोड़ा गया है। यह पंक्ति ही—

'प्रबल दच्छिन विप्रकुल तें सत्रु ह्वैहै नास'

इसे सूर के बहुत पीछे की रचना बता रही है। 'प्रबल दच्छिन विप्रकुल' से साफ पेशवाओं की ओर संकेत है। इसे खींच कर अध्यात्म-पक्ष की ओर मोड़ने का प्रयत्न व्यर्थ है।

सारांश यह कि हमें सूरदास का जो थोड़ा सा वृत्त 'चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता' में मिलता है उसी पर संतोष करना पड़ता है यह 'वार्त्ता' भी यद्यपि वल्लभाचार्य्य जी के पौत्र गोकुलनाथ जी की लिखी कही जाती है, पर उनकी लिखी नहीं जान पड़ती। इसमें कई जगह गोकुलनाथ जी के श्रीमुख से कही हुई बातों का बड़े आदर और सम्मान के शब्दों में उल्लेख है और वल्लभाचार्य जी की शिष्या न होने के कारण मीराबाई को बहुत बुरा भला कहा गया है और गालियाँ

तक दी गई हैं। रंग-ढंग से यह वार्त्ता गोकुलनाथ जी के पीछे उनके किसी गुजराती शिष्य की रचना जान पड़ती है।

'भक्तमाल' में सूरदास के सम्बन्ध में केवल एक ही छप्पय मिलता है—

उक्ति चोज अनुप्रास बरन-अस्थिति अति भारी।
वचन प्रीति निर्वाह अर्थ अद्भुत तुकधारी॥
प्रतिबिंबित दिवि दिष्टि, हृदय हरिलीला भासी।
जनम करम गुन रूप सबै रसना परकासी॥
विमल बुद्धि गुन और की जो यह गुन श्रवननि धरै।
सूर-कबित सुनि कौन कवि जो नहिं सिर चालन करै॥

इस छप्पय में सूर के अंधे होने भर का संकेत है, जो परंपरा से प्रसिद्ध चला आता है।

जीवन का कोई विशेष प्रामाणिक वृत्त न पा कर इधर कुछ लोगों ने सूर के समय के आसपास के किसी ऐतिहासिक लेख में जहाँ कहीं सूरदास नाम मिला है वही का वृत्त प्रसिद्ध सूरदास पर घटाने का प्रयत्न किया है। ऐसे दो उल्लेख लोगों को मिले हैं—

(१) 'आईन अकबरी' में अकबर के दरबार में नौकर गवैयों, बीनकारों आदि कलावंतों की जो फिहरिस्त है उसमें बाबा रामदास और उनके बेटे सूरदास दोनो के नाम दर्ज हैं। उसी ग्रन्थ में यह भी लिखा है कि सब कलावंतों की सात मंडलियाँ बना दी गई थीं। प्रत्येक मंडली सप्ताह में एक बार दरबार में हाज़िर हो कर बादशाह का मनोरंजन करती थी।

अकबर संवत् १६१३ में गद्दी पर बैठा। हमारे सूरदास संवत् १५८० के आसपास ही वल्लभाचार्य्य जी के शिष्य हो गए थे और उसके पहले भी विरक्त साधु के रूप में गऊघाट पर रहा करते थे। इस दशा में संवत् १६१३ के बहुत बाद वे दरबारी नौकरी करने कैसे पहुँचे ? अतः 'आईन अकबरी' के सूरदास और सूरसागर के सूरदास एक ही व्यक्ति नहीं ठहरते।

(२) 'मुंशियात अब्बुलफज़ल' नामक अब्बुलफज़ल के पत्रों का एक संग्रह है जिसमे बनारस के किसी संत सूरदास के नाम अब्बुलफज़ल का एक पत्र है। बनारस का करोड़ी इन सूरदास के साथ अच्छा बरताव नही करता था इससे उसकी शिकायत लिख कर इन्होंने शाही दरबार में भेजी थी। उसी के उत्तर मे अब्बुलफज़ल का पत्र है। बनारस के ये सूरदास बादशाह से इलाहाबाद में मिलने के लिए इस तरह बुलाए गए हैं।

"हज़रत बादशाह इलाहाबाद में तशरीफ लाएँगे। उम्मीद है कि आप भी सर्फ मुलाज़मत से मुशर्रफ हो कर मुरीद हकीकी होंगे और खुदा का शुक्र है कि हज़रत भी आपको हक-शिनास जान कर दोस्त रखते हैं"। (फारसी का अनुवाद)

इन शब्दों से ऐसी ध्वनि निकलती है कि ये कोई ऐसे संत थे जिनके अकबर के 'दीन-इलाही' में दीक्षित होने की सम्भावना अब्बुलफज़ल समझता था। सम्भव है कि ये कबीर के अनुयायी कोई संत हों। अकबर का दो बार इलाहाबाद जाना पाया जाता है। एक तो संवत् १६४० में, फिर संवत् १६६१

में। पहली यात्रा के समय का लिखा हुआ भी यदि इस पत्र को माने तो भी उस समय हमारे सूर का गोलोकवास हो चुका था। यदि उन्हें तब तक जीवित मानें तो वे १०० वर्ष के ऊपर रहे होंगे। मृत्यु के इतने समीप आ कर वे इन सब झमेलों में क्यो पड़ने जायँगे, या उनके 'दीन-इलाही' में दीक्षित होने की आशा कैसे की जायगी?

श्रीवल्लभाचार्य्य जी के पीछे उनके पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथ जी गद्दी पर बैठे। उस समय तक पुष्टिमार्गी कई कवि बहुत से सुन्दर सुन्दर पदों की रचना कर चुके थे। इससे गोसाईं विट्ठलनाथ जी ने उनमें से आठ सर्वोत्तम कवियों को चुन कर 'अष्टछाप' की प्रतिष्ठा की। 'अष्टछाप' के आठ कवि ये हैं— सूरदास, कुम्भनदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, छीत स्वामी, गोविन्द स्वामी, चतुर्भुजदास और नन्ददास।

कृष्णभक्ति-परंपरा में कृष्ण की प्रेममयी मूर्त्ति को ही ले कर प्रेमतत्त्व की बड़े विस्तार के साथ व्यंजना हुई है; उनके लोक-पक्ष का समावेश उसमें नहीं है। इन कृष्ण-भक्तों के कृष्ण प्रेमोन्मत्त गोपिकाओं से घिरे हुए गोकुल के श्रीकृष्ण है, बड़े-बड़े भूपालों के बीच लोक-व्यवस्था की रक्षा करते हुए द्वारका के श्रीकृष्ण नहीं है। कृष्ण के जिस मधुर रूप को ले कर ये भक्त कवि चले हैं वह हास-विलास की तरंगों से परिपूर्ण अनन्त सौन्दर्य्य का समुद्र है। उस सार्वभौम प्रेमालंबन के सम्मुख मनुष्य का हृदय निराले प्रेमलोक में फूला फूला फिरता है।

अत: इन कृष्ण-भक्त कवियों के सम्बन्ध में यह कह देना आवश्यक है कि ये अपने रंग में मस्त रहनेवाले जीव थे, तुलसीदास जी के समान लोक-संग्रह का भाव इनमें न था। समाज किधर जा रहा है, इस बात की ये परवा नही रखते थे, यहाँ तक कि अपने भगवत्प्रेम की पुष्टि के लिए जिस शृंगारमयी लोकोत्तर छटा और आत्मोत्सर्ग की अभिव्यंजना से इन्होंने जनता को रसोन्मत्त किया उसका लौकिक स्थूल दृष्टि रखनेवाले विषय-वासनापूर्ण जीवो पर कैसा प्रभाव पड़ेगा इसकी ओर इन्होंने ध्यान न दिया। जिस राधा और कृष्ण के प्रेम को इन भक्तों ने अपनी गूढ़ातिगूढ़ चरम भक्ति का व्यंजक वनाया उसको ले कर आगे के कवियो ने शृंगार की उन्माद-कारिणी उक्तियों से हिन्दी-काव्य को भर दिया।

कृष्णचरित के गान में गीत-काव्य की जो धारा पूरब में जयदेव और विद्यापति ने बहाई उसी का अवलंबन व्रज के भक्त कवियों ने भी किया। आगे चल कर अलंकार-काल के कवियो ने अपनी शृंगारमयी मुक्तक कविता के लिए राधा और कृष्ण का ही प्रेम लिया। इस प्रकार कृष्ण-सम्बन्धिनी कविता का स्फुरण मुक्तक के क्षेत्र में हुआ, प्रबंध-क्षेत्र में नही। बहुत पीछे १८०६ में व्रजवासीदास ने रामचरित-मानस के ढंग पर दोहा चौपाइयों में प्रबन्ध-काव्य के रूप में कृष्णचरित वर्णन किया, पर ग्रन्थ बहुत साधारण कोटि का हुआ और उसका वैसा प्रसार न हो सका। कारण स्पष्ट है। कृष्ण-भक्त कवियों ने

श्रीकृष्ण भगवान् के चरित का जितना अंश लिया वह एक अच्छे प्रबंध-काव्य के लिए पर्याप्त न था। उसमें मानव-जीवन की वह अनेकरूपता न थी जो एक अच्छे प्रबंध-काव्य के लिए आवश्यक है। कृष्ण-भक्त कवियों की परंपरा अपने इष्टदेव की केवल बाललीला और यौवनलीला ले कर ही अग्रसर हुई जो गीत और मुक्तक के लिए ही उपयुक्त थी। मुक्तक के क्षेत्र में कृष्ण-भक्त कवियों तथा आलंकारिक कवियों ने शृंगार और वात्सल्य रसों को पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया, इसमें कोई सन्देह नहीं।

पहले कहा गया है कि श्री वल्लभाचार्यजी की आज्ञा से सूरदास जी ने श्री मद्भागवत की कथा को पदों में गाया। इनके सूरसागर में वास्तव में भागवत के दशम स्कंध की कथा ही ली गई है। उसी को इन्होंने विस्तार से गाया है। शेष स्कंधों की कथा संक्षेपतः इतिवृत्त के रूप में थोड़े से पदों में कह दी गई है। सूरसागर में कृष्णजन्म से ले कर श्रीकृष्ण के मथुरा जाने तक की कथा अत्यन्त विस्तार से फुटकल पदों में गई है। भिन्न भिन्न लीलाओं के प्रसंग ले कर इस सच्चे रसमग्न कवि ने अत्यन्त मधुर और मनोहर पदों की झड़ी सी बाँध दी है। इन पदों के सम्बन्ध में सब से पहली बात ध्यान देने की यह है कि चलती हुई ब्रजभाषा में सब से पहली साहित्यिक रचना होने पर भी ये इतने सुडौल और परिमार्जित हैं। यह रचना इतनी प्रगल्भ और काव्यांगपूर्ण है कि आगे होनेवाले कवियों की शृंगार

और वात्सल्य की उक्तियाँ सूर की जूठी सी जान पड़ती हैं। अतः सूरसागर किसी चली आती हुई गीतकाव्य-परंपरा का—चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास सा प्रतीत होता है।

गीतों की परंपरा तो सभ्य असभ्य सब जातियों में अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है। सभ्य जातियों ने लिखित साहित्य के भीतर भी उनका समावेश किया है। लिखित रूप में आ कर उनका रूप पंडितों की काव्य-परंपरा की रूढ़ियों के अनुसार बहुत कुछ बदल जाता है। इससे जीवन के कैसे कैसे योग सामान्य जनता का मर्म स्पर्श करते आए हैं और भाषा की किन किन पद्धतियों पर वे अपने गहरे भावों की व्यंजना करते आए हैं, इसका ठीक पता हमें बहुत काल से चले आते हुए मौखिक गीतों से ही लग सकता है। किसी देश की काव्यधारा के मूल प्राकृतिक स्वरूप का परिचय हमें चिरकाल से चले आते हुए इन्ही गीतों से मिल सकता है। घर घर प्रचलित स्त्रियों के घरेलू गीतो में शृंगार और करुण दोनो का बहुत स्वाभाविक विकास हम पाएँगे। इसी प्रकार आल्हा, कड़खा आदि पुरुषों के गीतो में वीरता की व्यंजना की सरल स्वाभाविक पद्धति मिलेगी। देश की अंतर्वर्त्तिनी मूल भावधारा के स्वरूप के ठीक ठीक परिचय के लिए ऐसे गीतों का पूर्ण संग्रह बहुत आवश्यक है। पर इस संग्रह-कार्य्य में उन्हीं का हाथ लगाना ठीक है जिन्हें भारतीय संस्कृति के मार्मिक स्वरूप की परख हो और जिनमें पूरी ऐतिहासिक दृष्टि हो।

स्त्रियों के बीच चले आते हुए बहुत पुराने गीतों को ध्यान से देखने पर पता लगेगा कि उनमें स्वकीया के ही प्रेम की सरल गम्भीर व्यंजना है। परकीया-प्रेम के जो गीत हैं वे कृष्ण और गोपिकाओं की प्रेमलीला को ही ले कर चले हैं, इससे उन पर भक्ति या धर्म का भी कुछ रंग चढ़ा रहता है। इस प्रकार के मौखिक गीत देश के प्रायः सब भागों में गाए जाते थे। मैथिल कवि विद्यापति (संवत् १४६०) की पदावली में हमें उनका साहित्यिक रूप मिलता है। सूर के शृंगारी पदों की रचना बहुत कुछ विद्यापति की पद्धति पर हुई है। कुछ पदों के तो भाव भी बिल्कुल मिलते हैं; जैसे—

अनुखन माधव माधव सुमिरइत सुंदरि भेलि मधाई।
ओ निज भाव सुभावहि बिसरल अपने गुन लुबधाई॥

× × × ×

भोरहि सहचरि कातर दिठि हेरि छल छल लोचन पानि।
अनुखन राधा राधा रटइत आधा आधा बानि॥
राधा सयँ जब पनितहि माधव, माधव सयँ जब राधा।
दारुन प्रेम तबहि नहि टूटत बाढ़त बिरह क बाधा॥
दुहु दिसि दास दहन जइसे दगधई, आकुल कीट-परान।
ऐसन बल्लभ हेरि सुधामुखि कवि विद्यापति भान॥

इस पद का भावार्थ यह है कि प्रतिक्षण कृष्ण का स्मरण करते करते राधा कृष्णरूप हो जाती हैं और अपने को कृष्ण समझ कर राधा के वियोग में 'राधा राधा' रटने लगती हैं।

फिर जब होश में आती हैं तब कृष्ण के विरह में संतप्त, हो कर फिर 'कृष्ण कृष्ण' करने लगती हैं। इस प्रकार अपनी सुध में रहती हैं तब भी, नहीं रहती हैं तब भी, दोनो अवस्थाओं में उन्हें विरह का ताप सहना पड़ता है। उनकी दशा उस लकड़ी के भीतर के कीड़े की सी रहती है जिसके दोनो छोरों पर आग लगी हो। अब इसी भाव का सूर का यह पद देखिए—

सुनौ स्याम ! यह बात और कोउ क्यों समझाय कहै।
दुहुँ दिसि की रति विरह विरहिनी कैसे कै जो सहै॥
जब राधे, तब ही मुख 'माधौ माधौ' रटति रहै।
जब माधौ ह्वै जाति, सकल तनु राधा-विरह दहै॥
उभय अग्र दव दारुकीट ज्यो सीतलताहि चहै।
सूरदास अति बिकल विरहिनी कैसेहु सुख न लहै॥

(सूरसागर पृ० ५६४ वेंकटेश्वर)

'सूरसागर' में जगह जगह दृष्टिकूटवाले पद मिलते हैं। यह भी विद्यापति का अनुकरण है। 'सारंग' शब्द को ले कर सूर ने कई जगह कूट पद कहे हैं। विद्यापति की पदावली में इसी प्रकार का एक कूट देखिए—

सारँग नयन, बयन पुनि सारँग, सारँग तसु समधाने।
सारँग उपर उगल दस सारँग, केलि करथि मधुपाने॥

पच्छिमी हिंदी बोलनेवाले सारे प्रदेशों में गीतों की भाषा ब्रज ही थी, दिल्ली के आसपास भी गीत ब्रजभाषा में ही गाए जाते थे, खुसरो (संवत् १३४०) के गीत और दोहे बिल्कुल

ब्रजभाषा में हैं। कबीर (संवत् १५६०) की 'साखी' की भाषा तो 'सधुक्कड़ी' है, पर पदों की भाषा काव्य में प्रचलित ब्रजभाषा है। यह एक पद तो कबीर और सूर दोनो की रचनाओं के भीतर ज्यों का त्यों मिलता है—

> है हरि भजन को परवॉन।
> नीच पावै ऊँच पदवी, बाजते नीसान।
> भजन को परताप ऐसो तिरे जल पाषान।
> अधम भील, अजाति गनिका चढ़े जात बिवाँन।
> नव लख तारा चलै मंडल, चलै ससहर भान।
> दास धू कौं अटल पदवी राम को दीवान।
> निगम जाकी साखि बोलैं कथै संत सुजान।
> जन कबीर तेरी सरनि आयौ, राखि लेहु भगवान॥
>
> (कबीर-ग्रंथावली पृ० १६०)

> है हरि-भजन को परमान।
> नीच पावै ऊँच पदवी, बाजते नीसान।
> भजन को परताप ऐसो जल तरै पाषान।
> अजामिल अरु भील गनिका चढ़े जात बिमान।
> चलत तारे सकल मंडल, चलत ससि अरु भान।
> भक्त ध्रुव को अटल पदवी राम को दीवान।
> निगम जाको सुजस गावत, सुनत संत सुजान।
> सूर हरि की सरन आयौ, राखि ले भगवान।
>
> (सूरसागर पृ० १९ वेंकटेश्वर)

कबीर की सब से प्राचीन प्रति में भी यह पद मिलता है, इससे नहीं कहा जा सकता है कि सूर की रचनाओं के भीतर यह कैसे पहुँच गया।

राधाकृष्ण की प्रेमलीला के गीत सूर के पहले से चले आते थे, यह तो कहा ही जा चुका है। बैजू बावरा एक प्रसिद्ध गवैया हो गया है जिसकी ख्याति तानसेन के पहले देश में फैली हुई थी। उसका एक पद देखिए—

मुरली बजाय रिझाय लई मुख मोहन ते।
गोपी रीझि रही रसतानन सों सुधबुध सब बिसराई।
धुनि सुनि मन मोहे, मगन भई देखत हरि-आनन।
जीव जंतु पसु पंछी सुर नर मुनि मोहे, हरे सब के प्रानन।
बैजू बनवारी बंसी अधर धरि वृंदाबन-चंद बस किए सुनत ही कानन॥

जिस प्रकार रामचरित गान करनेवाले भक्त कवियों में गोस्वामी तुलसीदास जी का स्थान सर्वश्रेष्ठ है उसी प्रकार कृष्णचरित गानेवाले भक्त कवियों में महात्मा सूरदास जी का। वास्तव में ये हिंदी काव्य-गगन के सूर्य और चन्द्र हैं। जो तन्मयता इन दोनो भक्तशिरोमणि कवियों की वाणी में पाई जाती है वह अन्य कवियों में कहाँ? हिंदी-काव्य इन्हीं के प्रभाव से अमर हुआ; इन्हीं की सरसता से उसका स्रोत सूखने न पाया। सूर की स्तुति में, एक संस्कृत श्लोक के भाव को लेकर, यह दोहा कहा गया है—

उत्तम पद कवि गंग के, कविता को बल बीर।
केशव अर्थगँभीर को, सूर तीन गुन धीर॥

इसी प्रकार यह दोहा भी बहुत प्रसिद्ध है—

किधौं सूर को सर लग्यो, किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर को पद लग्यो, वेध्यो सकल सरीर॥

यद्यपि तुलसी के समान सूर का काव्य-क्षेत्र इतना व्यापक नहीं कि उसमें जीवन की भिन्न भिन्न दशाओं का समावेश हो पर जिस परिमित पुण्य-भूमि में उनकी वाणी ने संचरण किया उसका कोई कोना अछूता न छूटा। शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में जहाँ तक इनकी दृष्टि पहुँची वहाँ तक और किसी कवि की नही। इन दोनो क्षेत्रों में तो इस महाकवि ने मानो औरों के लिए कुछ छोड़ा ही नही। गोस्वामी तुलसीदास ने गीतावली में बाललीला को इनकी देखादेखी बहुत अधिक विस्तार दिया सही पर उसमें बाल-सुलभ भावों और चेष्टाओ की वह प्रचुरता नहीं आई, उसमें रूप-वर्णन की ही प्रचुरता रही। बालचेष्टा के स्वाभाविक मनोहर चित्रों का इतना बड़ा भंडार और कहीं नही।

सूर की बड़ी भारी विशेषता है नवीन प्रसंगों की उद्भावना। प्रसंगोद्भावना करनेवाली ऐसी प्रतिभा हम तुलसी में नहीं पाते। बाललीला और प्रेमलीला दोनो के अन्तर्गत कुछ दूर तक चलनेवाले न जाने कितने छोटे छोटे मनोरंजक वृत्तों की कल्पना सूर ने की है। जीवन के एक क्षेत्र के भीतर कथावस्तु की यह रमणीय कल्पना ध्यान देने योग्य है।

राधकृष्ण के प्रेम को ले कर कृष्णभक्ति की जो काव्यधारा चली उसमें लीलापक्ष अर्थात् बाह्यार्थ-विधान की प्रधानता रही

आलोचना

हिन्दुओं के स्वातंत्र्य के साथ ही साथ वीर-गाथाओं की परंपरा भी काल के अँधेरे में जा छिपी। उस हीन दशा के बीच वे अपने पराक्रम के गीत किस मुहँ से गाते और किन कानों से सुनते? जनता पर गहरी उदासी छा गई थी। राम और रहीम को एक बतानेवाली बानी मुरझाए मन को हरा न कर सकी; क्योंकि उसके भीतर उस कट्टर एकेश्वरवाद का सुर मिला हुआ था, जिसका ध्वंसकारी स्वरूप लोग नित्य अपनी आँखों देख रहे थे। सर्वस्व गँवा कर भी हिन्दू जाति अपनी स्वतंत्र सत्ता बनाए रखने की वासना नहीं छोड़ सकी थी। इससे उसने अपनी सभ्यता, अपने चिर-संचित संस्कार आदि की रक्षा के लिए राम और कृष्ण का आश्रय लिया; और उनकी भक्ति का स्रोत देश के एक कोने से दूसरे कोने तक फैल गया। जिस प्रकार वंग देश में कृष्ण चैतन्य ने, उसी प्रकार उत्तर भारत में

वल्लभाचार्य्य जी ने परम भाव की उस आनन्द-विधायिनी कला का दर्शन करा कर, जिसे प्रेम कहते हैं, जीवन में सरसता का संचार किया। दिव्य प्रेम-संगीत की धारा में इस लोक का सुखद पक्ष निखर आया और जमती हुई उदासी या खिन्नता बह गई।

जयदेव की देववाणी की स्निग्ध पीयूष-धारा, जो काल की कठोरता में दब गई थी, अवकाश पाते ही लोकभाषा की सरसता में परिणत हो कर मिथिला की अमराइयों में विद्यापति के कोकिल कंठ से प्रकट हुई और आगे चल कर व्रज के करील-कुंजों के बीच फैल मुरझाए मनों को सींचने लगी। आचार्य्यों की छाप लगी हुई आठ वीणाएँ श्रीकृष्ण की प्रेम-लीला का कीर्त्तन करने उठीं, जिनमें सब से ऊँची, सुरीली और मधुर झनकार अंधे कवि सूरदास की वीणा की थी। ये भक्त कवि सगुण उपासना का रास्ता साफ करने लगे। निर्गुण उपासना की नीरसता और अग्राह्यता दिखाते हुए ये उपासना का हृदयग्राही स्वरूप सामने लाने में लग गए। इन्होंने भगवान् का प्रेममय रूप ही लिया; इससे हृदय की कोमल वृत्तियों के ही आश्रय और आलंबन खड़े किए। आगे जो इनके अनुयायी कृष्ण-भक्त हुए, वे भी उन्ही वृत्तियों में लीन रहे। हृदय की अन्य वृत्तियों (उत्साह आदि) के रंजनकारी रूप भी यदि वे चाहते, तो कृष्ण में ही मिल जाते; पर उनकी ओर वे न बढ़े। भगवान् का यह व्यक्त स्वरूप यद्यपि एक-देशीय

था—केवल प्रेममय था—पर उस समय नैराश्य के कारण जनता के हृदय में जीवन की ओर से एक प्रकार की जो अरुचि सी उत्पन्न हो रही थी, उसे हटाने में उपयोगी हुआ। मनुष्यता के सौन्दर्य्यपूर्ण और माधुर्य्यपूर्ण पक्ष को दिखा कर इन कृष्णोपासक वैष्णव कवियों ने जीवन के प्रति अनुराग जगाया, या कम से कम जीने की चाह बनी रहने दी।

बाल्य काल और यौवन काल कितने मनोहर हैं! उनके बीच की नाना मनोरम परिस्थितियों के विशद चित्रण द्वारा सूरदास जी ने जीवन की जो रमणीयता सामने रखी, उससे गिरे हुए हृदय नाच उठे। 'वात्सल्य' और 'शृंगार' के क्षेत्रों का जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपनी बंद आँखों से किया, उतना किसी और कवि ने नहीं। इन क्षेत्रों का कोना कोना वे झाँक आए। उक्त दोनो रसों के प्रवर्त्तक रतिभाव के भीतर की जितनी मानसिक वृत्तियों और दशाओं का अनुभव और प्रत्यक्षीकरण सूर कर सके, उतनी का और कोई नहीं। हिन्दी साहित्य में शृंगार का रस-राजत्व यदि किसी ने पूर्ण रूप से दिखाया, तो सूर ने।

उनकी उमड़ती हुई वाग्धारा उदाहरण रचनेवाले कवियों के समान गिनाए हुए संचारियों से बँध कर चलनेवाली न थी। यदि हम सूर के केवल विप्रलंभ शृंगार को ही लें, अथवा भ्रमर-गीत को ही देखे, तो न जाने कितने प्रकार की मानसिक दशाएँ ऐसी मिलेंगी, जिनके नामकरण तक नहीं हुए हैं। मैं इसी को

कवियों की पहुँच कहता हूँ। यदि हम मनुष्य-जीवन के सम्पूर्ण क्षेत्र को लेते हैं, तो सूरदास जी की दृष्टि परिमित दिखाई पड़ती है। पर यदि उनके चुने हुए क्षेत्रों (शृंगार और वात्सल्य) को लेते हैं, तो उनके भीतर उनकी पहुँच का विस्तार बहुत अधिक पाते हैं। उन क्षेत्रों में इतना अन्तर्दृष्टि-विस्तार और किसी कवि का नहीं। बात यह है कि सूर को 'गीतकाव्य' की जो परंपरा (जयदेव और विद्यपति की) मिली, वह शृंगार की ही थी। इसी से सूर के संगीत में भी उसी की प्रधानता रही। दूसरी बात है उपासना का स्वरूप। सूरदास जी वल्लभाचार्य्य जी के शिष्य थे, जिन्होंने भक्तिमार्ग में भगवान् का प्रेममय स्वरूप प्रतिष्ठित कर के उसके आकर्षण द्वारा 'सायुज्य मुक्ति' का मार्ग दिखाया था। भक्ति-साधना के इस चरम लक्ष्य या फल (सायुज्य) की ओर सूर ने कहीं कहीं संकेत भी किया है; जैसे—

सीत उष्ण सुख दुख नहिं मानै, हानि भए कछु सोच न रोंचै।
जाय समाय सूर वा निधि में बहुरि न उलटि जगत में नाचै॥

जिस प्रकार ज्ञान की चरम सीमा ज्ञाता और ज्ञेय की एकता है, उसी प्रकार प्रेम-भाव की चरम सीमा आश्रय और आलंबन की एकता है। अतः भगवद्भक्ति की साधना के लिए इसी प्रेम-तत्त्व को वल्लभाचार्य्य ने सामने रखा; और उनके अनुयायी कृष्ण-भक्त कवि इसी को लेकर चले। गो० तुलसीदास जी की दृष्टि व्यक्तिगत साधना के अतिरिक्त लोक-पक्ष पर भी थी; इसी से वे मर्य्यादा-पुरुषोत्तम के चरित को ले कर चले; और

उसमें लोकरक्षा के अनुकूल जीवन की और और वृत्तियों का भी उन्होंने उत्कर्ष दिखाया और अनुरंजन किया।

उक्त प्रेमतत्त्व की पुष्टि में ही सूर की वाणी मुख्यतः प्रयुक्त जान पड़ती है। रति-भाव के तीनो प्रबल और प्रधान रूप—भगवद्विषयक रति, वात्सल्य और दाम्पत्य रति—सूर ने लिए हैं। यद्यपि पिछले दोनो प्रकार के रति-भाव भी कृष्णोन्मुख होने के कारण तत्त्वतः भगवत्प्रेम के अन्तर्भूत ही हैं, पर निरूपण-भेद से और रचना-विभाग की दृष्टि से वे अलग रखे गए हैं। इस दृष्टि से विभाग करने से विनय के जितने पद हैं, वे भगवद्विषयक रति के अन्तर्गत आवेंगे; बाललीला के पद वात्सल्य के अन्तर्गत और गोपियों के प्रेम-सम्बन्धी पद दाम्पत्य रति-भाव के अन्तर्गत होंगे। हृदय से निकली हुई प्रेम की इन तीनो प्रबल धाराओं से सूर ने बड़ा भारी सागर भर कर तैयार किया है।

कवि-कर्म्म-विधान के दो पक्ष होते हैं—विभाव-पक्ष और भाव-पक्ष। कवि एक ओर तो ऐसी वस्तुओं का चित्रण करता है, जो मन में कोई भाव उठाने या उठे हुए भाव को और जगाने में समर्थ होती हैं; और दूसरी ओर उन वस्तुओं के अनुरूप भावों के अनेक स्वरूप शब्दों द्वारा व्यक्त करता है। एक विभाव-पक्ष है, दूसरा भाव-पक्ष। कहने की आवश्यकता नहीं कि काव्य में ये दोनो अन्योन्याश्रित हैं, अतः दोनो रहते हैं। जहाँ एक ही पक्ष का वर्णन रहता है, वहाँ भी दूसरा पक्ष अव्यक्त रूप में रहता है। जैसे, नायिका के रूप का नखशिख का कोरा

वर्णन लें, तो उसमें भी आश्रय का रति-भाव अव्यक्त रूप में वर्त्तमान रहता है। भाव-पक्ष में सूर की पहुँच का उल्लेख ऊपर हो चुका है। सूरदास जी ने शृंगार और वात्सल्य ये ही दो रस लिए हैं। अतः विभाव-पक्ष में भी उनका वर्णन उन्हीं वस्तुओं तक परिमित है, जो उक्त दोनो रसों के आलंबन या उद्दीपन के रूप में आ सकती हैं; जैसे, राधा और कृष्ण के नाना रूप, वेश और चेष्टाएँ तथा करील-कुंज, उपवन, जमुना, पवन, चंद्र, ऋतु इत्यादि।

विभाव-पक्ष के अन्तर्गत भी वस्तुएँ दो रूपों में लाई जाती हैं—वस्तु-रूप में और अलंकार-रूप में; अर्थात् प्रस्तुत रूप में और अप्रस्तुत रूप में। मान लीजिए कि कोई कवि कृष्ण का वर्णन कर रहा है। पहले वह कृष्ण के श्याम या नील-वर्ण शरीर को, उस पर पड़े हुए पीताम्बर को, त्रिभंगी मुद्रा को, स्मित आनन को, हाथ में ली हुई मुरली को, सिर के कुंचित केश और मोर-मुकुट आदि को सामने रखता है। यह विन्यास वस्तु-रूप में हुआ। इसी प्रकार का विन्यास यमुना-तट, निकुंज की लहराती लताओं, चंद्रिका, कोकिल-कूजन आदि का होगा। इनके साथ ही यदि कृष्ण के शोभा-वर्णन में घन और दामिनी, सनाल कमल आदि उपमान के रूप में वह लाता है, तो यही विन्यास अलंकार-रूप में होगा। वर्ण्य विषय की परिमिति के कारण वस्तु-विन्यास का जो संकोच सूर की रचना में दिखाई पड़ता है, उसकी बहुत कुछ कसर अलंकार-रूप में लाए हुए

पदार्थों के प्राचुर्य्य द्वारा पूरी हो जाती है। कहने का तात्पर्य्य यह कि प्रस्तुत रूप में लाए हुए पदार्थों की संख्या सूर में कम, पर अलंकार-रूप में लाए हुए पदार्थो की संख्या बहुत अधिक है। यह दूसरे प्रकार की (आलंकारिक) रूप-योजना या व्यापार-योजना किसी और (प्रस्तुत) रूप के प्रभाव को बढ़ाने के लिए ही होती है, अतः इसमें लाए हुए रूप या व्यापार ऐसे ही होने चाहिएँ, जो प्रभाव में उन प्रस्तुत रूपों या व्यापारों के समान हों। सूर अलंकार-योजना के लिए अधिकतर ऐसे ही पदार्थ लाए हैं।

सारांश यह कि यदि हम बाह्य सृष्टि से लिए रूपों और व्यापारों के सम्बन्ध में सूर की पहुँच का विचार करते हैं, तो यह बात स्पष्ट देखने में आती है कि प्रस्तुत रूप में लिए हुए पदार्थों और व्यापारों की संख्या परिमित है। उन्होंने कृष्ण और राधा के अंग प्रत्यंग, मुद्राओं और चेष्टाओं, यमुना-तट, वंशीवट, निकुंज, गो-चारण, वन-विहार, बाल-लीला, चोरी, नटखटी तथा कवि-परिपाटी में परिगणित ऋतु-सुलभ वस्तुओं तक ही अपने को रखा है।

इसके कारण दो हैं। पहली बात तो यह है कि इनकी रचना 'गीतकाव्य' है जिसमें मधुर ध्वनि-प्रवाह के बीच कुछ चुने हुए पदार्थों और व्यापारों की झलक भर काफी होती है। गो० तुलसीदास जी के समान सूरसागर प्रबन्ध-काव्य नहीं है, जिसमें कथा-क्रम से अनेक पदार्थों और व्यापारों की शृंखला जुड़ती

चली चलती है। सूरदास जी ने प्रत्येक लीला या प्रसंग पर फुटकल पद कहे हैं। एक पद दूसरे पद से सम्बद्ध नही है। प्रत्येक पद स्वतंत्र है। इसी से किसी एक प्रसंग पर कहे हुए पदों को यदि हम लेते हैं, तो एक ही घटना से सम्बन्ध रखनेवाली एक ही बात भिन्न भिन्न रागिनियो में कुछ फेरफार के साथ बहुत से पदों में मिलती है, जिससे पढ़नेवाले का जी कभी कभी ऊब सा जाता है। यह बात प्रकृत प्रबन्ध-काव्य में नहीं होती।

परिमिति का दूसरा कारण पहले ही कहा चुका है कि सूरदास जी ने जीवन की वास्तव में दो ही वृत्तियाँ ली हैं—बाल-वृत्ति और यौवन-वृत्ति। इन दोनो के अन्तर्गत आए हुए व्यापार क्रीड़ा, उमंग और उद्रेक के रूप में ही हैं। प्रेम भी घटनापूर्ण नही है। उसमें किसी प्रकार का प्रयत्न-विस्तार नहीं है, जिसके भीतर नई नई वस्तुओं और व्यापारों का सन्निवेश होता चलता है। लोक-संघर्ष से उत्पन्न विविध व्यापारों की योजना सूर का उद्देश्य नहीं है। उनकी रचना जीवन की अनेकरूपता की ओर नहीं गई है; बाल-क्रीड़ा, प्रेम के रंग-रहस्य और उसकी अतृप्त वासना तक ही रह गई है। जीवन की गंभीर समस्याओं से तटस्थ रहने के कारण उसमें वह वस्तु-गांभीर्य्य नही है जो गोस्वामी जी की रचनाओं में है। परिस्थिति की गंभीरता के अभाव से गोपियों के वियोग में भी वह गंभीरता नही दिखाई पड़ती जो सीता के वियोग में है। उनका वियोग खाली बैठे का काम सा दिखाई पड़ता है। सीता अपने प्रिय से वियुक्त हो कर कई

सौ कोस दूर दूसरे द्वीप में राक्षसों के बीच पड़ी हुई थीं। गोपियों के गोपाल केवल दो चार कोस दूर के एक नगर में राजसुख भोग रहे थे। सूर का वियोग-वर्णन वियोग-वर्णन के लिए ही है, परिस्थिति के अनुरोध से नहीं। कृष्ण गोपियों के साथ क्रीड़ा करते करते किसी कुंज या झाड़ी में जा छिपते हैं; या यों कहिए कि थोड़ी देर के लिए अंतर्द्धान हो जाते हैं। बस गोपियाँ मूर्च्छित हो कर गिर पड़ती हैं। उनकी आँखों से आँसुओं की धारा उमड़ चलती है। पूर्ण वियोग-दशा उन्हें आ घेरती है। यदि परिस्थिति का विचार करें, तो ऐसा विरह-वर्णन असंगत प्रतीत होगा। पर जैसा कहा जा चुका है, सूरसागर प्रबन्ध-काव्य नहीं है, जिसमें वर्णन की उपयुक्तता या अनुपयुक्तता के निर्णय में घटना या परिस्थिति के विचार का बहुत कुछ योग रहता है।

पारिवारिक और सामाजिक जीवन के बीच हम सूर के बाल कृष्ण को ही थोड़ा बहुत देखते हैं। कृष्ण के केवल बाल-चरित्र का प्रभाव नंद, यशोदा आदि परिवार के लोगों और पड़ोसियों पर पड़ता दिखाई देता है। सूर का बाललीला-वर्णन ही पारिवारिक जीवन से सम्बद्ध है। कृष्ण के छोटे छोटे पैरों से चलने, मुँह में मक्खन लिपटा कर भागने या इधर उधर नटखटी करने पर नंद बबा और यशोदा मैया का कभी पुलकित होना, कभी खीझना, कभी पड़ोसियों का प्रेम से उलाहना देना आदि बातें एक छोटे से जन-समूह के भीतर आनन्द का संचार

करती दिखाई गई हैं। इसी बाल-लीला के भीतर कृष्णचरित का लोकपक्ष अधिकतर आया है; जैसे कंस के भेजे हुए असुरों के उत्पात से गोपों को बचाना, काली नाग को नाथ कर लोगों का भय छुड़ाना। इन्द्र के कोप से डूबती हुई बस्ती की रक्षा करने और नंद को वरुण लोक से लाने का वृत्तांत यद्यपि प्रेम-लीला आरंभ होने के पीछे आया है, पर उससे सम्बद्ध नहीं है। कृष्ण के चरित में जो यह थोड़ा बहुत लोकसंग्रह दिखाई पड़ता है, उसके स्वरूप में सूर की वृत्ति लीन नहीं हुई है। जिस शक्ति से उस बाल्यावस्था में ऐसे प्रबल शत्रुओं का दमन किया गया, उसके उत्कर्ष का अनुरंजनकारी और विस्तृत वर्णन उन्होंने नहीं किया है। जिस ओज और उत्साह से तुलसीदास जी ने मारीच, ताड़का, खरदूषण आदि के निपात का वर्णन किया है उस ओज और उत्साह से सूरदास जी ने बकासुर, अघासुर, कंस आदि के वध और इन्द्र के गर्व-मोचन का वर्णन नहीं किया है। कंस और उसके साथी असुर भी कृष्ण के शत्रु के रूप में ही सामने आते हैं, लोकशत्रु या लोक-पीड़क के रूप में नहीं। रावण के साथी राक्षसों के समान वे ब्राह्मणों को चबा चबा कर उनकी हड्डियों का ढेर लगानेवाले या स्त्री चुरानेवाले नहीं दिखाई पड़ते। उनके कारण वैसा हाहाकार नहीं सुनाई पड़ता। उनका अत्याचार 'सभ्य अत्याचार' जान पड़ता है। शक्ति, शील और सौन्दर्य्य भगवान् की इन तीन विभूतियों में से सूर ने केवल सौन्दर्य्य तक ही अपने को रखा है, जो प्रेम को

आकर्षित करता है। शेष दो विभूतियों को भी ले कर भगवान् के लोक-रंजनकारी स्वरूप की पूर्ण प्रतिष्ठा हमारे हिन्दी साहित्य में गो० तुलसीदास जी ने की। श्रद्धा या महत्त्वबुद्धि को पुष्ट करने के लिए कृष्ण की शक्ति या लौकिक महत्त्व की प्रतिष्ठा में आग्रह न दिखाने के कारण ही सूर की उपासना सख्य भाव की कही जाती है।

पारिवारिक और सामाजिक जीवन के साथ सूरदास द्वारा वर्णित कृष्णचरित का जो थोड़ा बहुत सम्बन्ध दिखाई पड़ता है उसका सम्यक् स्फुरण नहीं हुआ है। रहा प्रेमपक्ष; वह ऐकान्तिक है।—सूर का प्रेमपक्ष लोक से न्यारा है। गोपियों के प्रेमभाव की गंभीरता आगे चल कर उद्धव का ज्ञान-गर्व मिटाती हुई दिखाई पड़ती है। वह भक्ति की एकान्त साधना का आदर्श प्रतिष्ठित करती हुई जान पड़ती है, लोकधर्म के किसी अंग का नहीं। सूरदास सच्चे प्रेममार्ग के त्याग और पवित्रता को ज्ञानमार्ग के त्याग और पवित्रता के समकक्ष रखने में खूब समर्थ हुए हैं; और साथ ही उन्होंने उस त्याग को रागात्मिका वृत्ति द्वारा प्रेरित दिखा कर भक्तिमार्ग या प्रेममार्ग की सुगमता भी प्रतिपादित की है।

तुलसी के समान 'लोकव्यापी प्रभाववाले कर्म और लोकव्यापिनी दशाएँ सूर ने वर्णन के लिए नहीं ली हैं। असुरों के अत्याचार से दुखी पृथ्वी की प्रार्थना पर भगवान् का कृष्णावतार हुआ, इस बात को उन्होंने केवल एक ही पद में कह डाला है।

इसी प्रकार कागासुर, वकासुर, शकटासुर आदि को हम लोक-पीड़कों के रूप में नहीं पाते हैं। केवल प्रलंब और कंस के बध पर देवताओं का फूल बरसाना देख कर उक्त कर्म के लोक-व्यापी प्रभाव का कुछ आभास मिलता है। पर वह वर्णन विस्तृत नहीं है। सूरदास का मन जितना नंद के घर की आनंद-बधाई, बाल-क्रीड़ा, मुरली की मोहनी तान, रास-नृत्य, प्रेम के रंग-रहस्य और संयोग वियोग की नाना दशाओं में लगा है, उतना ऐसे प्रसंगों में नहीं। ऐसे प्रसंगों को उन्होंने किसी प्रकार चलता कर दिया है। कुछ लोग रामचरित-मानस में राम के प्रत्येक कर्म पर देवताओं का फूल बरसाना देख कर ऊबते से हैं। उन्हें समझना चाहिए कि गोस्वामी जी ने राम के प्रत्येक कर्म को ऐसे व्यापक प्रभाव का चित्रित किया है, जिस पर तीनो लोकों की दृष्टि लगी रहती थी। कृष्ण का गो-चारण और रास-लीला आदि देखने को भी देवगण एकत्र हो जाते हैं, पर केवल तमाशबीन की तरह।

सूरदास जी को मुख्यतः शृंगार और वात्सल्य का कवि समझना चाहिए, यद्यपि और रसों का भी एक आध जगह अच्छा वर्णन मिल जाता है, जैसे, दावानल के इस वर्णन में भयानक रस का—

भहरात झहरात दावानल आयो।
घेरि चहुँ ओर, करि सोर अंदोर बन
धरनि आकास चहुँ पास छायो।

बरत बन बाँस, थरहरत कुस काँस,
जरि उड़त बहु झाँस, अति प्रबल धायो।
झपटि झपटत लपट, फूल फूटत पटकि,
चटकि लट लटकि द्रुम फटि नवायो।
अति अगिनि झार भंभार धुंधार करि
उचटि अंगार झंझार छायो।
बरत बनपात, भहरात, झहरात,
अररात तरु महा धरनी गिरायो॥

पर जैसा कहते आ रहे हैं, मुख्यता शृंगार और वात्सल्य की ही है। पर इसमें संदेह नहीं कि इन दोनो रसों के वे सब से बड़े कवि हैं।

यहाँ तक तो सूर की रचना की सामान्य दृष्टि से समीक्षा हुई। अब इन महाकवि की उन विशेषताओं का थोड़ा बहुत दिग्दर्शन होना चाहिए जिनके कारण हिन्दी साहित्य में इनका स्थान इतना ऊँचा है। ध्यान देने की सब से पहली बात यह है कि चलती हुई ब्रजभाषा में सब से पहली साहित्यिक कृति इन्हीं की मिलती है, जो अपनी पूर्णता के कारण आश्चर्य में डाल देती है। पहली साहित्यिक रचना और इतनी प्रचुर, प्रगल्भ और काव्यांगपूर्ण कि अगले कवियों की शृंगार और वात्सल्य की उक्तियाँ इनकी जूठी जान पड़ती हैं। यह बात हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखनेवालों को उलझन में डालनेवाली होगी। सूरसागर किसी चली आती हुई परंपरा का—

चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास सा जान पड़ता है, आगे चलनेवाली परंपरा का मूल रूप नहीं।

यदि भाषा को ले कर देखते हैं, तो वह व्रज की चलती बोली होने पर भी एक साहित्यिक भाषा के रूप में मिलती है, जो और प्रान्तों के कुछ प्रचलित शब्दों और प्रत्ययों के साथ ही साथ पुरानी काव्यभाषा या अपभ्रंश के शब्दों को लिए हुए है। सूर की भाषा बिल्कुल बोलचाल की व्रजभाषा नहीं है। 'जाकों,' 'तासों,' 'वाकों' चलती व्रजभाषा के रूपों के समान ही 'जेहि' 'तेहि' आदि पुराने रूपों का प्रयोग बराबर मिलता है, जो अवधी की बोलचाल में तो अब तक हैं, पर व्रज की बोलचाल में सूर के समय में भी नहीं थे। पुराने निश्चयार्थक 'पै' का व्यवहार भी पाया जाता है, जैसे, 'जाहि लगै सोई पै जानै, प्रेम-बान अनियारो'। 'गोड़,' 'आपन,' 'हमार' आदि पूरबी प्रयोग भी बराबर पाए जाते हैं। कुछ पंजाबी प्रयोग भी मौजूद हैं; जैसे, महँगी के अर्थ में 'प्यारी' शब्द। ये सब बाते एक व्यापक काव्यभाषा के अस्तित्व की सूचना देती हैं।

अब हम संक्षेप में उन प्रसंगों को लेते हैं जिनमें सूर की प्रतिभा पूर्णतया लीन हुई है। कृष्ण-जन्म की आनन्द-बधाई के उपरान्त ही बाललीला का आरम्भ हो जाता है। जितने विस्तृत और विशद रूप में बाल्य जीवन का चित्रण इन्होंने किया है, उतने विस्तृत रूप में और किसी कवि ने नहीं किया। शैशव से ले कर कौमार अवस्था तक के क्रम से लगे हुए न जाने

कितने चित्र मौजूद हैं। उनमें केवल बाहरी रूपों और चेष्टाओं का ही विस्तृत और सूक्ष्म वर्णन नहीं है; कवि ने बालकों की अन्तःप्रकृति में भी पूरा प्रवेश किया है और अनेक बाल्य भावों की सुन्दर स्वाभाविक व्यंजना की है। देखिए, 'स्पर्द्धा' का भाव, जो बालकों में स्वाभाविक होता है, इन वाक्यों से किस प्रकार व्यंजित हो रहा है—

'मैया कबहिं बढैगी चोटी ?
किती बार मोहि दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी।
तू जो कहति 'बल' की बेनी ज्यों ह्वैहै लाँबी मोटी॥

बाल-चेष्टा के स्वाभाविक मनोहर चित्रों का इतना बड़ा भांडार और कहीं नहीं है, जितना बड़ा सूरसागर में है। दो चार चित्र देखिए—

(१) कत हौ आरि करत मेरे मोहन यो तुम आँगन लोटी ?
जो माँगहु सो देहुँ मनोहर यहै बात तेरी खोटी।
सूरदास को ठाकुर ठाढ़ो हाथ लकुटि लिए छोटी॥

(२) सोभित कर नवनीत लिए।
घुटरुन चलत, रेनु तन मंडित, मुख दधि लेप किये॥

(३) सिखवत चलन जसोदा मैया।
अरबराय करि पानि गहावत, डगमगाय धरै पैयाँ॥

(४) पाहुनि करि दै तनक मह्यौ।
आरि करै मनमोहन मेरो, अंचल आनि गह्यो।
व्याकुल मथत मथनियाँ रीती, दधि भ्वैं ढरकि रह्यो॥

हार-जीत के खेल में बालकों के 'क्षोभ' के कैसे स्वाभाविक वचन सूर ने रखे हैं—

खेलत में को काको गोसैयाँ।
हरि हारे, जीते श्रीदामा, बरबस ही कत करत रिसैयाँ॥
जाति पाँति हमतें कछु नाहीं, न वसत तुम्हारी छैयाँ।
अति अधिकार जनावत याते अधिक तुम्हारे है कछु गैयाँ॥

अब यहाँ पर थोड़ा इसका भी निर्णय हो जाना चाहिए कि इन बाल-चेष्टाओं का काव्य-विधान में क्या स्थान होगा। वात्सल्य रस के अनुसार बालक कृष्ण आलंबन होंगे और नंद या यशोदा आश्रय। अतः ये चेष्टाएँ अनुभाव के अन्तर्गत आती हैं, पर आलंबनगत चेष्टाएँ उद्दीपन के ही भीतर आ सकती हैं। इससे यह स्पष्ट है कि ऐसी चेष्टाओं का स्थान भाव-विधान के ही भीतर है। उन्हे अलंकार-विधान के भीतर घसीट कर 'स्वभावोक्ति' अलंकार कहना मेरी समझ में ठीक नहीं।

बाल-लीला के आगे फिर उस गो-चारण का मनोरम दृश्य सामने आता है, जो मनुष्य जाति की अत्यन्त प्राचीन वृत्ति होने के कारण अनेक देशों में काव्य का प्रिय विषय रहा है। यवन देश (यूनान) के 'पशु-चारण काव्य' (Pastoral Poetry) का मधुर संस्कार युरोप की कविता पर अब तक कुछ न कुछ चला ही जाता है। कवियों को आकर्षित करनेवाली गोप-जीवन की सब से बड़ी विशेषता है—प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र में विचरने के लिए सब से अधिक अवकाश। कृषि, वाणिज्य

आदि और व्यवसाय जो आगे चल कर निकले, वे अधिक जटिल हुए—उनमें उतनी स्वच्छन्दता न रही। कविश्रेष्ठ कालिदास ने अपने रघुवंश काव्य के आरम्भ में दिलीप को नन्दिनी के साथ बन-बन फिरा कर इसी मधुर जीवन का आभास दिखाया है। सूरदास जी ने जमुना के कछारों के बीच गो-चारण के बड़े सुन्दर सुन्दर दृश्यों का विधान किया है। यथा—

मैया री! मोहि दाऊ टेरत।

मोकों वनफल तोरि देत हैं, आपुन गैयन घेरत।

यमुना-तट पर किसी बड़े पेड़ की शीतल छाया में बैठ कर कभी सब सखा कलेऊ बाँट कर खाते हैं, कभी इधर उधर दौड़ते हैं। कभी कोई चिल्लाता है—

द्रुम चढ़ि काहे न टेरत, कान्हा, गैयाँ दूरि गई।

धाई जाति सबन के आगे जे वृषभान दई॥

'जे वृषभान-दई' कह कर सूर ने पशु-प्रकृति का अच्छा परिचय दिया है। नए खूँटे पर आई हुई गाएँ बहुत दिनों तक चंचल रहती हैं और भागने का उद्योग करती हैं। इसी से वृषभानु की दी हुई गाएँ चरते समय भी भाग खड़ी होती हैं; और कुछ दूसरी गाएँ भी स्वभावानुसार उनके पीछे दौड़ पड़ती हैं।

वृंदावन के उसी सुखमय जीवन के हास-परिहास के बीच गोपियों के प्रेम का उदय होता है। गोपियाँ कृष्ण के दिन दिन खिलते हुए सौन्दर्य्य और मनोहर चेष्टाओं को देख मुग्ध होती

चली जाती हैं ; और कृष्ण कौमार अवस्था की स्वाभाविक चपलता-वश उनसे छेड़छाड़ करना आरम्भ करते हैं। हास-परिहास और छेड़छाड़ के साथ प्रेम-व्यापार का अत्यन्त स्वाभाविक आरम्भ सूर ने दिखाया है। किसी की रूप-चर्चा सुन, या अकस्मात् किसी की एक झलक पा कर हाय हाय करते हुए इस प्रेम का आरम्भ नही हुआ है। नित्य अपने बीच चलते फिरते, हँसते बोलते, वन में गाय चराते देखते देखते गोपियाँ कृष्ण में अनुरक्त होती है और कृष्ण गोपियों में। इस प्रेम को हम जीवनोत्सव के रूप में पाते हैं ; सहसा उठ खड़े हुए तूफान या मानसिक विप्लव के रूप में नहीं, जिसमें अनेक प्रकार के प्रतिवन्धो और विघ्न-वाधाओं को पार करने की लम्वी चौड़ी कथा खड़ी होती है। सूर के कृष्ण और गोपियाँ पक्षियों के समान स्वच्छंद हैं। वे लोक-बन्धनों से जकड़े हुए नहीं दिखाए गए हैं। जिस प्रकार स्वच्छंद समाज का स्वप्न अँगरेज़ कवि शेली देखा करते थे, उसी प्रकार का यह समाज सूर ने चित्रित किया है।

सूर के प्रेम की उत्पत्ति में रूप-लिप्सा और साहचर्य्य दोनो का योग है। वालक्रीड़ा के सखा-सखी आगे चल कर यौवन-क्रीड़ा के सखा-सखी हो जाते हैं। गोपियों ने उद्धव से साफ कहा है—"लरिकाई को प्रेम कहौ, अलि, कैसे छूटै ?"। केवल एक साथ रहते रहते भी दो प्राणियों में स्वभावतः प्रेम हो जाता है। कृष्ण एक तो वाल्यावस्था से ही गोपियों के वीच रहे, दूसरे

सुन्दरता में भी अद्वितीय थे। अतः गोपियों के प्रेम का क्रमशः विकास दो प्राकृतिक शक्तियों के प्रभाव से होने के कारण बहुत ही स्वाभाविक प्रतीत होता है। बालक्रीड़ा इस प्रकार क्रमशः यौवन-क्रीड़ा के रूप में परिणत होती गई है कि सन्धि का पता ही नही चलता। रूप का आकर्षण बाल्यावस्था से ही आरम्भ हो जाता है। राधा और कृष्ण के विशेष प्रेम की उत्पत्ति सूर ने रूप के आकर्षण द्वारा ही कही है।

(क) खेलन हरि निकसे ब्रज खोरी।

गए श्याम रवि-तनया के तट, अंग लसति चंदन की खौरी॥
औचक ही देखी तहँ राधा, नैन विसाल भाल दिए रोरी।
सूरश्याम देखत ही रीझे, नैन नैन मिलि परी ठगोरी॥

(ख) बूझत श्याम, कौन तू, गोरी !

"कहाँ रहति, काकी तू बेटी ? देखी नाहि कहूँ ब्रज-खोरी"॥
"काहे को हम ब्रज तन आवति ? खेलति रहति आपनी पौरी।
सुनति रहति श्रवनन नँद ढोटा करत रहत माखन दधिचोरी"॥
"तुम्हरी कहा चोरि हम लैहैं ? खेलन चलौ संग मिलि जोरी"।
सूरदास प्रभु रसिक-सिरोमनि बातन भुरइ राधिका भोरी॥

इस खेल ही खेल में इतनी बड़ी बात पैदा हो गई है, जिसे प्रेम कहते हैं। प्रेम का आरम्भ उभय पक्ष में सम है। आगे चल कर कृष्ण के मथुरा चले जाने पर उसमें कुछ विषमता दिखाई पड़ती है। कृष्ण यद्यपि गोपियों को भूले नहीं हैं, उद्धव के मुख से उनका वृत्तान्त सुन कर वे आँखों से आँसू भर

लाते हैं, पर गोपियों ने जैसा वेदनापूर्ण उपालम्भ दिया है, उससे अनुराग की कमी ही व्यंजित होती है।

पहले कहा जा चुका है कि श्रृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में सूर की समता को और कोई कवि नहीं पहुँचा है। श्रृंगार के संयोग और वियोग दोनो पक्षों का इतना प्रचुर विस्तार और किसी कवि में नहीं मिलता। वृंदावन में कृष्ण और गोपियों का सम्पूर्ण जीवन क्रीड़ामय है और वह सम्पूर्ण क्रीड़ा संयोग-पक्ष है। उसके अन्तर्गत विभावों की परिपूर्णता, कृष्ण और राधा के अंग-प्रत्यंग की शोभा के अत्यन्त प्रचुर और चमत्कार-पूर्ण वर्णन में तथा वृंदावन के करील-कुंजों, लोनी लताओं, हरे भरे कछारों, खिली हुई चाँदनी, कोकिल-कूजन आदि में देखी जाती है। अनुभावो और सचारियो का इतना बाहुल्य और कहाँ मिलेगा? सारांश यह कि संयोग-सुख के जितने प्रकार के क्रीड़ा-विधान हो सकते हैं, वे सब सूर ने ला कर इकट्ठे कर दिए हैं। यहाँ तक कि कुछ ऐसी बातें भी आ गई हैं—जैसे, कृष्ण के कधे पर चढ़ कर फिरने का राधा का आग्रह—जो कम रसिक लोगों को अरुचिकर स्त्रैणता प्रतीत होंगी।

सूर का संयोग-वर्णन एक क्षणिक घटना नही है, प्रेम-संगीत मय जीवन की एक गहरी चलती धारा है, जिसमें अवगाहन करनेवाले को दिव्य माधुर्य्य के अतिरिक्त और कही कुछ नहं दिखाई पड़ता। राधाकृष्ण के रंग-रहस्य के इतने प्रकार के चित्र सामने आते हैं कि सूर का हृदय प्रेम की नाना उमंगों का अक्षय्य

भांडार प्रतीत होता है। प्रेमोदय-काल की विनोद-वृत्ति और हृदय-प्रेरित हावों की छटा चारो ओर छलकी पड़ती है। राधा और कृष्ण का गाय चराते समय वन में भी साथ हो जाता है, एक दूसरे के घर आने जाने भी लगे हैं, इसलिए ऐसी ऐसी बातें नित्य न जाने कितनी हुआ करती हैं—

(क) करि ल्यो न्यारी, हरि, आपनि गैयाँ।
नहिन बसात लाल कछु तुम सों, सबै ग्वाल इक ठैयाँ॥

(ख) धेनु दुहत अति ही रति बाढ़ी।
एक धार दोहनि पहुँचावत, एक धार जहँ प्यारी ठाढ़ी।
मोहन कर ते धार चलति पय मोहनि-मुख अति ही छबि बाढ़ी॥

(ग) तुम पै कौन दुहावै गैया ?
इत चितवत, उत धार चलावत, एहि सिखयो है मैया ?

यशोदा के इस कथन का कि बार बार तू यहाँ क्यों उत्पात मचाने आती है राधा जो उत्तर देती हैं उसमें प्रेम के आविर्भाव की कैसी सीधी सादी और भोली भाली व्यंजना है—

बार बार तू ह्याँ जनि आवै।
"मैं कहा करौं सुतहिं नहिं बरजति, घर ते मोहिं बुलावै।
मोसों कहत तोहि बिनु देखे रहत न मेरो प्रान।
छोह लगत मोकों सुनि बानी; महरि! तिहारी आन"॥

कहने का सारांश यह कि प्रेम नाम की मनोवृत्ति का जैसा विस्तृत और पूर्ण परिज्ञान सूर को था, वैसा और किसी कवि को नहीं। इनका सारा संयोग-वर्णन लंबी चौड़ी प्रेमचर्य्या है

जिसमें आनन्दोल्लास के न जाने कितने स्वरूपों का विधान है। रासलीला, दानलीला, मानलीला इत्यादि सब उसी के अन्तर्भूत हैं। पीछे देव कवि ने एक 'अष्टयाम' रच कर प्रेम-चर्य्या दिखाने का प्रयत्न किया; पर वह अधिकतर एक घर के भीतर के भोग-विलास की कृत्रिम दिन-चर्य्या के रूप में है। उसमें न तो वह अनेक-रूपता है और न प्राकृतिक जीवन की वह उमंग।

आलंबन की रूप-प्रतिष्ठा के लिए कृष्ण के अंग-प्रत्यंग का सूर ने जो सैकड़ों पदों में वर्णन किया है, वह तो किया ही है, आश्रय-पक्ष में नेत्र-व्यापार और उसके अद्भुत प्रभाव पर एक दूसरी ही पद्धति पर बड़ी ही रम्य उक्तियाँ और बहुत अधिक हैं। रूप को हृदय तक पहुँचानेवाले नेत्र ही हैं। इससे हृदय की सारी आकुलता अभिलाषा और उत्कंठा का दोष इन्हीं रूप-वाहकों के सिर मढ़ कर सूर ने इनके प्रभाव-प्रदर्शन के लिए बड़े अनूठे ढंग निकाले हैं। कहीं इनकी न बुझनेवाली प्यास की परेशानी दिखाई है; कहीं इनकी चपलता और निरंकुशता पर इन्हें कोसा है। पीछे बिहारी, रामसहाय, गुलाम नबी और रसनिधि ने भी इस पद्धति का बहुत कुछ अनुकरण किया, पर यहाँ तो भांडार भरा हुआ है। इस प्रकार के नेत्र-व्यापार-वर्णन आश्रय-पक्ष और आलंबन-पक्ष दोनो में होते है। सूर ने आश्रय-पक्ष में ही इस प्रकार के वर्णन किए हैं; जैसे—

मेरे नैना बिरह की वेलि बई।
सींचत नीर नैन के सजनी मूल पताल गई॥

बिगसति लता सुभाय आपने, छाया सघन भई।
अब कैसे निरुवारौं, सजनी! सब तन पसरि छई॥

आलंबन-पक्ष में सूर के नेत्र-वर्णन उपमा-उत्प्रेक्षा आदि से भरी रूप-चित्रण की शैली पर ही हैं; जैसे—

देखि, री! हरि के चंचल नैन।
खंजन मीन मृगज चपलाई नहिं पटतर एक सैन॥
राजिवदल, इंदीवर, शतदल कमल कुशेशय जाति।
निसि मुद्रित, प्रातहि वै बिगसत, ये बिगसत दिन राति॥
अरुन असित सित झलक पलक प्रति को बरनै उपमाय।
मनौ सरस्वति गंग जमुन मिलि आगम कीन्हो आय॥

आलंबन में स्थित नेत्र क्या करते हैं, इसका वर्णन सूर ने बहुत ही कम किया है। पिछले कुछ कवियों ने इस पक्ष में भी चमत्कार-पूर्ण उक्तियाँ कही हैं। जैसे, सूर ने तो "अरुन, असित सित झलक" पर गंगा, यमुना और सरस्वती की उत्प्रेक्षा की है, पर गुलाम नबी (रसलीन) ने उसी झलक की यह करतूत दिखाई है—

असिय हलाहल मद भरे स्वेत, स्याम, रतनार।
जियत, मरत, झुकि झुकि परत जेहि चितवत एक बार॥

मुरली पर कही हुई उक्तियाँ भी ध्यान देने योग्य हैं; क्योंकि उनसे प्रेम की सजीवता टपकती है। यह वह सजीवता है, जो भरे हुए हृदय से छलक कर निर्जीव वस्तुओं पर भी अपना रंग चढ़ाती है। गोपियों की छेड़छाड़ कृष्ण ही तक नहीं

रहती, उनकी मुरली तक भी—जो जड़ और निर्जीव है—पहुँचती है। उन्हें वह मुरली कृष्ण के सम्बन्ध से कभी इठलाती, कभी चिढ़ाती और कभी प्रेमगर्व दिखाती जान पड़ती है। उसी सम्बन्ध-भावना से वे उसे कभी फटकारती हैं; कभी उसका भाग्य सराहती हैं और कभी उससे ईर्ष्या प्रकट करती है—

(क) माई री! मुरली अति गर्व काहू वदति नहिं आज।
हरि के मुख-कमल देखु पायो सुखराज॥

(ख) मुरली तऊ गोपालहि भावति।
सुन, री सखी! जदपि नँदनंदहि नाना भाँति नचावति।
राखति एक पायँ ठाढ़े करि, अति अधिकार जनावति॥
आपुन पौढ़ि अधर-सज्जा पर कर-पल्लव सों पदप लुटावति।
भृकुटी कुटिल, कोप नासापुट हम पर कोपि कँपावति॥

हृदय के पारखी सूर ने सम्बन्ध-भावना की शक्ति का अच्छा प्रसार दिखाया है। कृष्ण के प्रेम ने गोपियों में इतनी सजीवता भर दी है कि कृष्ण क्या, कृष्ण की मुरली तक से छेड़छाड़ करने को उनका जी चाहता है। हवा से लड़नेवाली स्त्रियाँ देखी नहीं, तो कम से कम सुनी बहुतों ने होंगी, चाहे उनकी जिंदःदिली की कद्र न की हो। मुरली के सम्बन्ध में कहे हुए गोपियों के वचन से दो मानसिक तथ्य उपलब्ध होते हैं—आलंबन के साथ किसी वस्तु की सम्बन्ध-भावना का प्रभाव तथा अत्यंत अधिक या फ़ालतू उमंग के स्वरूप। मुरली-सम्बन्धिनी

उक्तियों में प्रधानता पहली बात की है, यद्यपि दूसरे तत्त्व का भी मिश्रण है। फालतू उमंग के बहुत अच्छे उदाहरण उस समय देखने में आते हैं, जब कोई स्त्री अपने प्रिय को कुछ दूर पर देख कभी ठोकर खाने पर कंकड़ पत्थर को दो चार मीठी गालियाँ सुनाती है, कभी रास्ते में पड़ती हुई पेड़ की टहनी पर भ्रूभंग सहित झुँझलाती है और कभी अपने किसी साथी को यों ही ढकेल देती है।

यह सूचित करने की आवश्यकता तो कदाचित् न हो कि रूप पर मोहित होना, दर्शन के लिए आकुल रहना, वियोग में तड़पना आदि गोपियों के पक्ष में जितना कहा गया है, उतना कृष्ण-पक्ष में नहीं। यह यहाँ के शृंगारी कवियों की—विशेषतः फुटकर पद्य रचनेवालों की—सामान्य प्रवृत्ति ही रही है। तुल्यानुराग होने पर भी स्त्रियों की प्रेम-दशा या काम-दशा का वर्णन करने में ही यहाँ के कवियों का मन अधिक लगा है। पुराने प्रबन्ध-काव्यों में तो यह भेद उतना लक्षित नहीं होता, पर पीछे के काव्यों में यह स्पष्ट झलकता है। वाल्मीकि जी ने रामायण में सीता-हरण के उपरान्त राम और सीता दोनो के वियोग-दुःख-वर्णन में प्रायः समान ही शब्द-व्यय किया है। कालिदास ने मेघदूत का आरम्भ यक्ष की विरहावस्था से करके उत्तर-मेघ में यक्षिणी के विरह का वर्णन किया है। उनके नाटकों में भी प्रायः यही बात पाई जाती है। अतः मेरी समझ में शृंगार में नायिका की प्रेम-दशा या विरह-दशा का प्राधान्य श्रीमद्भागवत

और ब्रह्मवैवर्त्तपुराण की कृष्णलीला के अधिकाधिक प्रचार के साथ हुआ, जिसमें एक ओर तो अनन्त सौन्दर्य्य की स्थापना की गई और दूसरी ओर स्वाभाविक प्रेम का उदय दिखाया गया। पुरुष आलंबन हुआ और स्त्री आश्रय। जनता के बीच प्रेम के इस स्वरूप ने यहाँ तक प्रचार पाया कि क्या नगरों में, क्या ग्रामों में, सर्वत्र प्रेम के गीतों के नायक कृष्ण हुए और नायिका राधा। 'बनवारी' या 'कन्हैया' नायक का एक सामान्य नाम सा हो गया। दिल्ली के पिछले बादशाह मुहम्मद शाह रँगीले तक को होली के दिनों में 'कन्हैया' बनने का शौक हुआ करता था!

और देशों की फुटकर शृंगारी कविताओं में प्रेमियों के ही विरह आदि के वर्णन की प्रधानता देखी जाती है। जैसे एशिया के अरब, फारस आदि देशों में वैसे ही युरोप के इटली आदि काव्य-संगीत-प्रिय देशों में भी यही पद्धति प्रचलित रही। इटली में पीट्रार्क की शृंगारी कविता एक प्रेमिक के हृदय का उद्गार है। भारत में कृष्ण-कथा के प्रभाव से नायक के आकर्षक रूप में प्रतिष्ठित होने से पुरुषों की प्राधान्य-वासना की अधिक तृप्ति हुई। आगे चल कर पुरुषत्व पर इसका कुछ बुरा प्रभाव भी पड़ा। बहुतेरे शौर्य्य, पराक्रम आदि पुरुषोचित गुणों से मुहँ मोड़ 'चटक मटक लटक' लाने में लगे—बहुत जगह तो माँग पट्टी, सुरमे, मिस्सी तक की नौबत पहुँची! युरोप में, जहाँ स्त्री प्रधान आकर्षक के रूप में प्रतिष्ठित हुई, इसका उलटा हुआ।

वहाँ स्त्रियों के बनाव सिंगार और पहनावे के खर्च के मारे पुरुषों के नाकों दम हो गया।

सूर के संयोग-वर्णन की बात हो चुकी। इनका विप्रलंभ भी ऐसा ही विस्तृत और व्यापक है। वियोग की जितनी अन्तर्दशाएँ हो सकती हैं, जितने ढंगों से उन दशाओं का साहित्य में वर्णन हुआ है और सामान्यतः हो सकता है, वे सब उसके भीतर मौजूद हैं। आरम्भ वात्सल्य रस के वियोग-पक्ष से हुआ है। कृष्ण के मथुरा से न लौटने पर नंद और यशोदा दुःख के सागर में मग्न हो गए हैं। अनेक दुःखात्मक भाव-तरंगें उनके हृदय में उठती हैं। कभी यशोदा नंद से खीझ कर कहती हैं—

छाँड़ि सनेह चले मथुरा, कत दौरि न चीर गह्यो।
फाटि न गई वज्र की छाती, कत यह सूल सह्यो॥

इस पर नंद यशोदा पर उलट पड़ते हैं—

तब तू मारिबोई करति।
रिसनि आगे कहै जो आवत, अब लै भाँड़े भरति॥
रोस कै कर दाँवरी लै फिरति घर घर धरति।
कठिन हिय करि तब जो बाँध्यो, अब वृथा करि मरति॥

यह 'झुँझलाहट' वियोग-जन्य है, प्रेमभाव के ही अन्तर्गत है और कितनी स्वाभाविक है! सुख-शान्ति के भंग का कैसा यथातथ्य चित्र है!

आगे देखिए, गहरी 'उत्सुकता' और 'अधीरता' के बीच 'विरक्ति' (निर्वेद) और तिरस्कार-मिश्रित 'खिझलाहट' का यह

मेल कैसा अनूठा उतरा है। यशोदा नंद से कहती हैं—

—नंद! ब्रज लीजै ठोंकि बजाय।

देहु बिदा मिलि जाहिं मधुपुरी जहँ गोकुल के राय।

'ठोंकि बजाय' में कितनी व्यंजना है! 'तुम अपना ब्रज अच्छी तरह सँभालो; तुम्हें इसका गहरा लोभ है; मैं जाती हूँ'। एक एक वाक्य के साथ हृदय-लिपटा-हुआ-आता दिखाई दे रहा है। एक वाक्य दो दो तीन तीन भावों से लदा हुआ है। श्लेष आदि कृत्रिम विधानों से मुक्त ऐसा ही भाव-गुरुत्व हृदय को सीधे जा कर स्पर्श करता है। इसे भाव-शवलता कहें या भाव-पंचामृत; क्योंकि एक ही वाक्य "नंद! ब्रज लीजै ठोंकि बजाय" में कुछ निर्वेद, कुछ तिरस्कार और कुछ अमर्ष इन तीनो की मिश्र व्यंजना—जिसे शवलता ही कहने से सन्तोष नहीं होता—पाई जाती है। शवलता के प्रदत्त उदाहरणों में प्रत्येक भाव अलग शब्दों या वाक्यों द्वारा निर्दिष्ट किया जा सकता है; पर उक्त वाक्य में यह बात नहीं है।

ग्वाल सखाओं की भी यही दशा हो रही है। कभी वे व्याकुल और अधीर होते हैं, कभी कृष्ण की निष्ठुरता पर क्षुब्ध हो कर कहते हैं—

भए हरि मधुपुरी-राजा, बड़े बंस कहाय।

सूत मागध बदत बिरुदहि बरनि बसुद्यौ तात।

राजभूषन अंग भ्राजत, अहिर कहत लजात॥

वियुक्त प्रिय पुत्र के सुख के अनिश्चय की 'शंका' तक न

पहुँचती हुई भावना, 'दीनता' और क्षोभ-जन्य 'उदासीनता' किस प्रकार इन वचनों से टपक रही है—

सँदेसो देवकी सों कहियो ।
हौं तो धाय तिहारे सुत की, कृपा करति ही रहियो ॥
तुम तो टेव जानतिहि ह्वैहौ तऊ मोहिं कहि आवै ।
प्रात उठत मेरे लाल-लड़ैतहि माखन रोटी भावै ॥

कृष्ण राजभवन में जा पहुँचे हैं, यह जानते हुए भी यशोदा के प्रेमपूर्ण हृदय में यह बात जल्दी नहीं बैठती कि कृष्ण के सुख का ध्यान जितना वे रखती थीं उतना संसार में और भी कोई रख सकता है। रसमग्न हृदय ही ऐसी दशाओं का अनुभव कर सकता है। केवल उदाहरण की लीक पीटनेवालों के भाग्य में यह बात कहाँ !

आगे चल कर गोपियों की वियोग-दशा का जो धारा-प्रवाह वर्णन है उसका तो कहना ही क्या है ! न जाने कितनी मानसिक दशाओं का संचार उसके भीतर है। कौन गिना सकता है ? संयोग और वियोग दो अंग होने से शृंगार की व्यापकता बहुत अधिक है। इसी से वह रसराज कहलाता है। इस दृष्टि से यदि सूरसागर को हम रससागर कहें तो बेखटके कह सकते हैं। कृष्ण के चले जाने पर सायं प्रभात तो उसी प्रकार होते हैं, पर "मदन गोपाल बिना या तन की सबै बात बदली"। व्रज में पहले सायंकाल में जो मनोहर दृश्य देखने में आया करता था वह अब बाहर नहीं दिखाई पड़ता; पर मन से उसकी 'स्मृति' नहीं जाती—

एहि बेरियाँ बन तें ब्रज आवते।
दूरहिं तें वह बेनु अधर धरि बारंबार बजावते ॥

संयोग के दिनों में आनन्द की तरंगें उठानेवाले प्राकृतिक पदार्थों को वियोग के दिनों में देख कर जो दुःख होता है उसकी व्यंजना के लिए कवियों में उपालम्भ की चाल बहुत दिनों से चली आती है। चन्द्रोपालम्भ-सम्बन्धिनी बड़ी सुन्दर कविताएँ संस्कृत साहित्य में हैं। देखिए, सागर-मथन के समय चन्द्रमा को निकालनेवालों तक, इस उपालम्भ में, किस प्रकार गोपियाँ अपनी दृष्टि दौड़ाती हैं—

या बिनु होत कहा अब सूनो ?
लै किन प्रकट कियो प्राची दिसि, बिरहिनि को दुख दूनो ?
सब निरदय सुर, असुर, शैल सखि ! सायर सर्प समेत ॥
धन्य कहौं वर्षा ऋतु, तमचुर और कमलन को हेत।
जुग जुग जीवै जरा बापुरी मिलै राहु अरु केत ॥

इसी पद्धति के अनुसार वे वियोगिनी गोपियाँ अपने उजड़े हुए नीरस जीवन के मेल में न होने के कारण वृंदावन के हरे भरे पेड़ों को कोसती है—

मधुबन ! तुम कत रहत हरे ?
विरह-वियोग श्यामसुंदर के ठाढ़े क्यों न जरे ?
तुम हौ निलज, लाज नहिं तुमको फिर सिर पुहुप धरे।
ससा स्यार औ वन के पखेरू धिक धिक सबन करे।
कौन काज ठाढ़े रहे वन में, काहे न उकठि परे ?

इसी प्रकार रात उन्हें सॉपिन सी लग रही हैं। साँपिन की पीठ काली और पेट सफेद होता है। ऐसा प्रसिद्ध है कि वह काट कर उलट जाती है, जिससे सफेद भाग ऊपर हो जाता है। बरसात की अँधेरी रात में कभी कभी बादलों के हट जाने से जो चाँदनी फैल जाती है वह ऐसी ही लगती है—

पिया बिनु सॉपिन कारी राति।
कबहुँ जामिनी होति जुन्हैया डसि उलटी ह्वै जाति॥

इस पद पर न जाने कितने लोग लट्टू हैं!

सूरदास जी का विरह-स्थल जिस प्रकार घर की चार-दीवारी के भीतर तक ही न रह कर यमुना के हरे भरे कछारों, करील के कुंजों और वन-स्थलियों तक फैला है उसी प्रकार उनका विरह-वर्णन भी "वैरिन भइँ रतियाँ" और "साँपिन भइ सेजिया" तक ही न रह कर प्रकृति के खुले क्षेत्र के बीच दूर दूर तक पहुँचता है। मनुष्य के आदिम वन्य जीवन के परंपरागत मधुर संस्कार को उद्दीप्त करनेवाले इन शब्दों में कितना माधुर्य है—"एक बन ढूँढ़ि सकल बन ढूँढ़ौं, कतहुँ न श्याम लहौं"। ऋतुओं का आना जाना उसी प्रकार लगा है। प्रकृति पर उनका रंग वैसा ही चढ़ता उतरता दिखाई पड़ता है। भिन्न भिन्न ऋतुओं की वस्तुएँ देख जैसे गोपियों के हृदय में मिलने की उत्कंठा उत्पन्न होती है वैसे ही कृष्ण के हृदय में क्यों नहीं उत्पन्न होती? जान पड़ता है कि ये सब उधर जाती ही नहीं, जिधर कृष्ण बसते हैं। सब वृन्दावन में ही आ आ कर अपना अड्डा जमाती हैं—

मानौ, माई ! संबन्ह इतै ही भावत।
अब वहि देस नंदनंदन को कोउ न समौ जनावत।
धरत न बन नवपत्र, फूल, फल, पिक बसंत नहि गावत।
मुदित न सर सरोज अलि गुंजत, पवन पराग उड़ावत।
पावस बिविध बरन बर बादर उठि नहिं अंबर छावत।
चातक मोर चकोर सोर करैं, दामिनि रूप दुरावत॥

अपनी अन्तर्दशा को ऋतु-सुलभ व्यापारों के बीच बिंब-प्रतिबिंब रूप में देखना भाव-मग्न अन्तःकरण की एक विशेषता है। इसके वर्णन में प्रस्तुत अप्रस्तुत का भेद मिट सा जाता है। ऐसे वर्णन पावस के प्रसंग में सूर ने बहुत अच्छे किए हैं। "निसि दिन बरसत नैन हमारे" बहुत प्रसिद्ध पद है। विरहोन्माद में भिन्न भिन्न प्रकार की उठती हुई भावनाओं से रंजित हो कर एक ही वस्तु कभी किसी रूप में दिखाई पड़ती है, कभी किसी रूप में। उठते हुए बादल कभी तो ऐसे भीषण रूप में दिखाई पड़ते हैं—

देखियत चहुँ दिसि ते घन घोरे।
मानौ मत्त मदन के हथियन बल करि बंधन तोरे॥
कारे तन अति चुवत गंड मद, बरसत थोरे थोरे।
रुकत न पवन-महावत हू पै, मुरत न अंकुस मोरे॥

कभी अपने प्रकृत लोक-सुखदायक रूप में ही सामने आते हैं और कृष्ण की अपेक्षा कहीं दयालु और परोपकारी लगते हैं—

बरु ये बदराऊ बरसन आए।
अपनी अवधि जानि, नँदनंदन ! गरजि गगन घन छाए ॥
कहियत है सुरलोक बसत, सखि ! सेवक सदा पराए।
चातक कुल की पीर जानि कै, तेउ तहाँ ते धाए।
तृण किए हरित, हरषि बेली मिलि, दादुर मृतक जिवाए ॥

'बरु' और 'बदराऊ' के 'ऊ' में कैसी व्यंजना है ! 'बादल तक'—जो जड़ समझे जाते हैं—आश्रितों के दुःख से द्रवीभूत हो कर आते हैं !

प्रिय के साथ कुछ रूप-साम्य के कारण वे ही मेघ कभी प्रिय लगने लगते हैं—

आजु घन श्याम की अनुहारि।
उनै आए साँवरे ते सजनी ! देखि, रूप की आरि ॥
इंद्रधनुष मनो नवल बसन छबि, दामिनि दसन विचारि।
जनु बग-पाँति माल मोतिन की, चितवत हितहि निहारि ॥

इसी प्रकार पपीहा कभी तो अपनी बोली के द्वारा प्रिय का स्मरण करा कर दुःख बढ़ाता हुआ प्रतीत होता है और यह फटकार सुनता है—

हौं तो मोहन के बिरह जरी, रे ! तू कत जारत ?
रे पापी तू पंखि पपीहा ! 'पिउ पिउ पिउ' अधिराति पुकारत।
सब जग सुखी, दुखी तू जल बिनु तऊ न तन की बिथहि बिचारत॥
सूरश्याम बिनु ब्रज पर बोलत, हठि अगिलोऊ जनम बिगारत।

और कभी सम दुःख-भोगी के रूप में अत्यन्त सुहृद जान

पड़ता है और समान प्रेम व्रत-पालन के द्वारा उनका उत्साह बढ़ाता प्रतीत होता है—

बहुत दिन जीवौ, पपिहा प्यारो।
बासर रैनि नाँव लै बोलत, भयो बिरह-जुर कारो॥
आपु दुखित पर दुखित जानि जिय चातक * नाम तिहारो।
देखौ सकल विचारि, सखी! जिय बिछुरन को दुख न्यारो॥
जाहि लगै सोई पै जानै प्रेम-बान अनियारो।
सूरदास प्रभु स्वाति-बूँद लगि, तज्यो सिंधु करि खारो॥

काव्य-जगत् की रचना करनेवाली कल्पना इसी को कहते हैं। किसी भावोद्रेक द्वारा परिचालित अन्तर्वृत्ति जब उस भाव के पोषक स्वरूप गढ़ कर या काट छाँट कर सामने रखने लगती है तब हम उसे सच्ची कवि-कल्पना कह सकते हैं। यों ही सिरपच्ची करके—बिना किसी भाव में मग्न हुए—कुछ अनोखे रूप खड़े करना या कुछ को कुछ कहने लगना या तो बावलापन है, या दिमाग़ी कसरत; सच्चे कवि की कल्पना नहीं। वास्तव के अतिरिक्त या वास्तव के स्थान पर जो रूप सामने लाए गए हों उनके सम्बन्ध में यह देखना चाहिए कि वे किसी भाव की उमंग में उस भाव को सँभालनेवाले या बढ़ानेवाले हो कर आ खड़े हुए हैं या यों ही तमाशा दिखाने के लिए—कुतूहल उत्पन्न करने के लिए—ज़बरदस्ती पकड़ कर लाए गए हैं। यदि ऐसे रूपों की

---

* चातक=(चत्=माँगना) याचना करनेवाला।

तह में उनके प्रवर्त्तक या प्रेषक भाव का पता लग जाय तो समझिए कि कवि के हृदय का पता लग गया और वे रूप हृदय-प्रेरित हुए। अँगरेज़ कवि कालरिज ने, जिसने कवि-कल्पना पर अच्छा विवेचन किया है, अपनी एक कविता * में ऐसे रूपावरण को आनन्द-स्वरूप आत्मा से निकला हुआ कहा है, जिसके प्रभाव से जीवन में रोचकता रहती है। जब तक यह रूपावरण (कल्पना का) जीवन में साथ लगा चलता है तब तक दुःख की परिस्थिति में भी आनन्द-स्वप्न नहीं टूटता। पर धीरे धीरे यह दिव्य आवरण हट जाता है और मन गिरने लगता है। भावोद्रेक और कल्पना में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि एक काव्य-मीमांसक ने दोनो को एक ही कहना ठीक समझ कर कह दिया है—"कल्पना आनन्द है" (Imagination is joy) †।

सच्चे कवियों की कल्पना की बात जाने दीजिए, साधारण व्यवहार में भी लोग जोश में आ कर कल्पना का जो व्यवहार बराबर किया करते हैं वह भी किसी पहाड़ को 'शिशु' और 'पांडव' कहनेवाले कवियों के व्यवहार से कहीं उचित होता है। किसी निष्ठुर कर्म करनेवाले को यदि कोई 'हत्यारा' कह देता है, तो वह सच्ची कल्पना का उपयोग करता है; क्योंकि विरक्ति या घृणा के अतिरेक से प्रेरित हो कर ही उसकी अन्तर्वृत्ति हत्यारे का

---

* Dejection Ode, 4th April 1802.

† G. W. Mackael's Lectures on Poetry.

रूप सामने करती है, जिससे भाव की मात्रा के अनुरूप आलंबन खड़ा हो जाता है। 'हत्यारा' शब्द का लाक्षणिक प्रयोग ही विरक्ति की अधिकता का व्यंजक है। उसके स्थान पर यदि कोई उसे 'बकरा' कहे, तो या तो किसी भाव की व्यंजना न होगी या किसी ऐसे भाव की होगी जो प्रस्तुत विषय के मेल में नहीं। कहलानेवाला कोई भाव अवश्य चाहिए और उस भाव को प्रस्तुत वस्तु के अनुरूप होना चाहिए। भारी मूर्ख को लोग जो 'गदहा' कहते हैं वह इसी लिए कि 'मूर्ख' कहने से उनका जी नहीं भरता—उनके हृदय में उपहास अथवा तिरस्कार का जो भाव रहता है उसकी व्यंजना नहीं होती।

कहने की आवश्यकता नहीं कि अलंकार-विधान में उपयुक्त उपमान लाने में कल्पना ही काम करती है। जहाँ वस्तु, गुण या क्रिया के पृथक् पृथक् साम्य पर ही कवि की दृष्टि रहती है वहाँ वह उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि का सहारा लेता है और जहाँ व्यापार-समष्टि या पूर्ण प्रसंग का साम्य अपेक्षित होता है वहाँ दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास और अन्योक्ति का। उपर्युक्त विवेचन से यह प्रकट है कि प्रस्तुत के मेल में जो अप्रस्तुत रखा जाय—चाहे वह वस्तु, गुण या क्रिया हो अथवा व्यापार-समष्टि—वह प्राकृतिक और चित्ताकर्षक हो तथा उसी प्रकार का भाव जगानेवाला हो जिस प्रकार का प्रस्तुत। व्यापार-समष्टि के समन्वय में कवि की सहृदयता का जिस पूर्णता के साथ हमें दर्शन होता है उस पूर्णता के साथ वस्तु, क्रिया

आदि के पृथक् पृथक् समन्वय में नहीं। इसी से सुन्दर अन्योक्तियाँ इतनी मर्मस्पर्शिणी होती हैं। चुना हुआ अप्रस्तुत व्यापार जितना ही प्राकृतिक होगा—जितना ही अधिक मनुष्य जाति के आदिम जीवन में सुलभ दृश्यों के अन्तर्गत होगा—उतना ही रमणीय और अनुरंजनकारी होगा। सूरदास जी ने कई स्थलों पर अपनी कल्पना के बल से प्रस्तुत प्रसंग के मेल में अत्यंन्त मनोरम व्यापार-समष्टि की योजना की है। कोई गोपिका या राधा स्वप्न में श्रीकृष्ण के दर्शनों का सुख प्राप्त कर रही थी कि उसकी नींद उचट गई। इस व्यापार के मेल में कैसा प्रकृति-व्यापी और गूढ़ व्यापार सूर ने रखा है, देखिए—

हमको सपनेहू में सोच।
जा दिन तें बिछुरे नँदनंदन ता दिन तें यह पोच।
मनौ गोपाल आए मेरे घर, हँसि करि भुजा गही।
कहा करौं बैरिनि भइ निंदिया, निमिष न और रही।
ज्यों चकई प्रतिबिंब देखि कै आनंदी पिय जानि।
सूर पवन मिलि निठुर बिधाता चपल कियो जल आनि॥

स्वप्न में अपने ही मानस में किसी का रूप देखने और जल में अपना ही प्रतिबिंब देखने का कैसा गूढ़ और सुंदर साम्य है। इसके उपरान्त पवन द्वारा प्रशान्त जल के हिल जाने से छाया का मिट जाना कैसा भूतव्यापी व्यापार स्वप्नभंग के मेल में लाया गया है!

इसी प्रकार प्राकृतिक चित्रों द्वारा सूर ने कई जगह पूरे प्रसंग की व्यंजना की है। जैसे, गोपियाँ मथुरा से कुछ ही दूर

पर पड़ी विरह से तड़फड़ा रही हैं; पर कृष्ण राज-सुख के आनन्द में फूले नहीं समा रहे हैं। यह बात वे इस चित्र द्वारा कहते हैं—

सागर-कूल मीन तरफत है, हुलसि होत जल पीन।

जैसा ऊपर कहा गया है, जिसे निर्माण करनेवाली—सृष्टि खड़ी करनेवाली—कल्पना कहते हैं उसकी पूर्णता किसी एक प्रस्तुत वस्तु के लिए कोई दूसरी अप्रस्तुत वस्तु—जो कि प्रायः कवि-परंपरा में प्रसिद्ध हुआ करती है—रख देने में उतनी नहीं दिखाई पड़ती जितनी किसी एक पूर्ण प्रसंग के मेल का कोई दूसरा प्रसंग—जिसमें अनेक प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों की नवीन योजना रहती है—रखने में देखी जाती है। सूरदास जी ने कल्पना की इस पूर्णता का परिचय जगह जगह दिया है, इसका अनुमान ऊपर उद्धृत पदों से हो सकता है। कबीर, जायसी आदि कुछ रहस्यवादी कवियों ने इस जीवन का मार्मिक स्वरूप तथा परोक्ष जगत् की कुछ धुँधली सी झलक दिखाने के लिए इसी अन्योक्ति की पद्धति का अवलम्बन किया है; जैसे—

हंसा प्यारे! सरवर तजि कहँ जाय?
जेहि सरवर बिच मोती चुनते, बहुबिधि केलि कराय॥
सूख ताल, पुरइनि जल छोड़े, कमल गयो कुँभिलाय।
कह कबीर जो अब की बिछुरै, बहुरि मिलै कब आय॥

रहस्यवादी कवियों के समान सूर की कल्पना भी कभी कभी

इस लोक का अतिक्रमण करके आदर्श लोक की ओर संकेत करने लगती है ; जैसे—

चकई री ! चलि चरन-सरोवर जहाँ न प्रेम-वियोग ।
निसि दिन राम राम की वर्षा, भय रुज नहिं दुख सोग ॥
जहाँ सनक से मीन, हंस शिव, मुनिजन-नख-रवि-प्रभा-प्रकास ।
प्रफुलित कमल, निमिष नहिं ससि डर, गुंजत निगम सुवास ।
जेहि सर सुभग मुक्ति मुक्ता-फल, सुकृत अमृत-रस पीजै ।
सो सर छाँड़ि कुबुद्धि विहंगम ! इहाँ कहा रहि कीजै ? ॥

पर एक व्यक्तवादी सगुणोपासक कवि की उक्ति होने के कारण इस चित्र में वह रहस्यमयी अव्यक्तता या धुँधलापन नहीं है। कवि अपनी भावना को स्पष्ट और अधिक व्यक्त करने के लिए जगह जगह आकुल दिखाई पड़ता है। इसी से अन्योक्ति का मार्ग छोड़ जगह जगह उसने रूपक का आश्रय लिया है। इसी अन्योक्ति का दीनदयालगिरि जी ने अच्छा निर्वाह किया है—

चल चकई ! वासर विपय जहँ नहि रैनि बिछोह ।
रहत एकरस दिवस ही सुहृद हंस-संदोह ॥
सुहृद हंस-संदोह कोह अरु द्रोह न जाके ।
भोगत सुख-अंबोह, मोह-दुख होय न ताके ॥
बरनै दीनदयाल भाग्य बिनु जाय न सकई ।
पिय-मिलाप नित रहै ताहि सर चल तू चकई ॥

इसी अन्योक्ति-पद्धति को कवीन्द्र रवीन्द्र ने आज कल अपने विस्तृत प्रकृति-निरीक्षण के बल से और अधिक पल्लवित कर के

जो पूर्ण और भव्य स्वरूप प्रदान किया है वह हमारे नवीन हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में 'गाँव में नया नया आया ऊँट' हो रहा है। बहुत से नवयुवकों को अपना एक नया ऊँट छोड़ने का हौसला हो गया है। जैसे भावों या तथ्यों की व्यंजना के लिए श्रीयुत रवीन्द्र प्रकृति के क्रीड़ास्थल से ले कर नाना मूर्त्त स्वरूप खड़ा करते हैं वैसे भावों को ग्रहण करने तक की क्षमता न रखनेवाले बहुतेरे ऊटपटाँग चित्र खड़ा करने और कुछ असम्बद्ध प्रलाप करने को ही 'छायावाद' की कविता समझ अपनी भी कुछ करामात दिखाने के फेर में पड़ गए हैं। चित्रों के द्वारा बात कहना बहुत ठीक है, पर कहने के लिए कोई बात भी तो हो। कुछ तो काव्य-रीति से सर्वथा अनभिज्ञ, छंद अलंकार आदि के ज्ञान से बिल्कुल कोरे देखे जाते हैं। बड़ी भारी बुराई यह है कि अपने को एक 'नए सम्प्रदाय' में समझ अहंकारवश वे कुछ सीखने का कभी नाम भी नहीं लेना चाहते और अपनी अनभिज्ञता को एक चलते नाम की ओट में छिपाना चाहते हैं। मैंने कई एक से उन्हीं की रचना ले कर कुछ प्रश्न किए, पर उनका मानसिक विकास बहुत साधारण कोटि का—कोई गंभीर तत्त्व ग्रहण करने के अनुपयुक्त—पाया। ऐसों के द्वारा काव्य-क्षेत्र में भी, राजनीतिक क्षेत्र के समान, पाषंड के प्रचार की आशंका है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि रहस्यवाद का प्रकृत स्वरूप और उसका इतिहास आदि साहित्य-सेवियों के सामने रखा जाय तथा पुराने और नए रहस्यवादी कवियों की रचनाओं

की सूक्ष्म परीक्षा द्वारा रहस्यवाद की कविता के साहित्यिक स्वरूप की मीमांसा की जाय। इस विषय पर अपने विचार मैं किसी दूसरे समय प्रकट करूँगा ; इस समय जो इतना कह गया, उसी के लिए क्षमा चाहता हूँ।

यहाँ तक तो सूर की सहृदयता की बातें हुई। अब उनकी साहित्यिक निपुणता के सम्बन्ध में भी दो चार बातें कहना आवश्यक है। किसी कवि की रचना के विचार के सुबीते के लिए हम दो पक्ष कर सकते हैं—हृदय-पक्ष और कला-पक्ष। हृदय-पक्ष का कुछ दिग्दर्शन हो चुका। अब सूर की कला-निपुणता के, काव्य के बाह्यांग के, सम्बन्ध में यह समझ रखना चाहिए कि वह भी उनमें पूर्ण रूप से वर्त्तमान है। यद्यपि काव्य में हृदय-पक्ष ही प्रधान है, पर बहिरंग भी कम आवश्यक नहीं है। रीति, अलंकार, छंद ये सब बहिरंग विधान के अन्तर्गत हैं, जिनके द्वारा काव्यात्मा की अभिव्यक्ति होती है। सूर, तुलसी, बिहारी आदि कवियों में दोनो पक्ष प्रायः सम हैं। जायसी में हृदय-पक्ष की प्रधानता है, कला-पक्ष में (अलंकारों का बहुत कुछ व्यवहार होते हुए भी) त्रुटि और न्यूनता है। केशव में कला-पक्ष ही प्रधान है, हृदय-पक्ष न्यून है।

यह तो आरम्भ में ही कहा जा चुका है कि सूर की रचना जयदेव और विद्यापति के गीत-काव्यों की शैली पर है, जिसमें सुर और लय के सौन्दर्य्य या माधुर्य्य का भी रस-परिपाक में बहुत कुछ योग रहता है। सूरसागर में कोई राग या रागिनी

त्रूटी न होगी, इससे वह संगीत-प्रेमियों के लिए भी बड़ा भारी खजाना है। नाद-सौन्दर्य्य के साधनों में अनुप्रास आदि शब्दालंकार भी हैं। संस्कृत के गीत-गोविन्द में कोमल-कान्त-पदावली और अनुप्रास की ओर बहुत कुछ ध्यान है। विद्यापति की रचना में कोमल पदावली का आग्रह तो है; पर अनुप्रास का उतना नहीं। सूर में चलती भापा की कोमलता है, वृत्ति-विधान और अनुप्रास की ओर झुकाव कम है। इससे भापा की स्वाभाविकता में वाधा नहीं पड़ने पाई है। भावुक सूर ने अपना 'शब्द-शोधन' दूसरी ओर दिखाया है। उन्होंने चलते हुए वाक्यों, मुहावरों और कहीं कहीं कहावतों का बहुत अच्छा प्रयोग किया है। कहने का तात्पर्य्य यह कि सूर की भाषा बहुत चलती हुई और स्वाभाविक है। काव्य-भाषा होने से यद्यपि उसमें कहीं कहीं संस्कृत के पद, कवि के समय से पूर्व के परंपरागत प्रयोग तथा व्रज से दूर दूर के प्रदेशों के शब्द भी आ मिले हैं, पर उनकी मात्रा इतनी नहीं है कि भाषा के स्वरूप में कुछ अन्तर पड़े या कृत्रिमता आवे। श्लेप और यमक कूट पदों में ही अधिकतर पाए जाते हैं।

अर्थालंकारो की अलवत पूर्ण प्रचुरता है, विशेषतः उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि सादृश्य-मूलक अलंकारों की। यद्यपि उपमान अधिकतर साहित्य-प्रसिद्ध और परंपरागत ही हैं, पर स्वकल्पित नए-नए उपमानों की भी कमी नहीं है। कहीं कहीं तो जो प्रसिद्ध उपमान भी लिए गए हैं, वे प्रसंग के बीच बड़ी

ही अनूठी उद्भावना के साथ बैठाए गए हैं। स्फटिक के आँगन में बालक कृष्ण घुटनों के बल चल रहे हैं और उनके हाथ पैर का प्रतिबिंब पड़ता चलता है। इस पर कवि की उत्प्रेक्षा देखिए—

फटिक-भूमि पर कर-पग-छाया यह शोभा अति राजति।
करि करि प्रति पद प्रति मनो वसुधा कमल बैठकी साजति॥

रूप या अंगों की शोभा के वर्णन में उपमा उत्प्रेक्षा की भरमार बराबर मिलेगी। इनमें बहुत सी तो पुरानी और बँधी हुई हैं और कुछ नवीन भी हैं। उपमा उत्प्रेक्षा की सब से अधिकता 'हरि जू की बाल-छवि' के वर्णन में पाई जाती है; यों तो जहाँ जहाँ रूप वर्णन है सर्वत्र ये अलंकार भरे पड़े हैं। उपमान सब तरह के हैं, पृथ्वी पर के भी और पृथ्वी के बाहर के भी— सामान्य प्राकृतिक व्यापार भी और पौराणिक प्रसंग भी। पिछले प्रकार के उपमानों के उदाहरण इस प्रकार के हैं—

(क) नील स्वेत पर पीत लाल मनि लटकन माल रुराई।
सनि, गुरु, असुर, देवगुरु मिलि मनो भौम सहित समुदाई॥

(ख) हरि कर राजत माखन रोटी।
मनौ बराह भूधर सह पृथिवी धरी दसनन की कोटी॥

अंग-शोभा और वेश भूषा आदि के वर्णन में सूर को उपमा देने की झक सी चढ़ जाती है और वे उपमा पर उपमा, उत्प्रेक्षा पर उत्प्रेक्षा कहते चले जाते हैं। इस झक में कभी कभी परिमिति या मर्य्यादा का विचार (Sense of proportion) नहीं रह जाता;

जैसे, ऊपर के उदाहरण (ख) में कहाँ मक्खन लगी हुई छोटी सी रोटी और कहाँ गोल पृथ्वी ! हाँ, जहाँ ईश्वरत्व या देवत्व की भावना से किसी छोटे व्यापार द्वारा बृहद् अत्यन्त व्यापार की ओर संकेत मात्र किया है वहाँ ऐसी बात नही खटकती ; जैसे इस पद में—

मथत दधि मथनी टेकि रह्यौ।
आरि करत मटकी गहि मोहन वासुकि संभु डर्‌यो ॥
मंदर डरत, सिधु पुनि काँपत फिरि जनि मथन करै।
प्रलय होय जनि गहे मथानी, प्रभु मर्य्याद टरै॥

पर उक्त दोनो उदाहरणो के सम्बन्ध में तो इतना बिना कहे नही रहा जाता कि ऐसे उपमान बहुत काव्योपयोगी नही जँचते। काव्य में ऐसे ही उपमान अच्छी सहायता पहुँचाते हैं जो सामान्यतः प्रत्यक्ष रूप में परिचित होते है और जिनकी भव्यता, विशालता या रमणीयता आदि का संस्कार जनसाधारण के हृदय पर पहले से जमा चला आता है। न शनि का कोयले सा कालापन ही किसी ने आँखों देखा है, न वराह भगवान् का दाँत की नोक पर पृथ्वी उठाना। यह बात दूसरी है कि केशव ऐसे कुछ प्रसिद्ध कवियों ने भी "भानु मनो शनि अंक लिए" ऐसी उत्प्रेक्षा की ओर रुचि दिखाई है।

हमारे कहने का यह तात्पर्य्य नहीं कि ज्ञान विज्ञान के प्रसार से जो सूक्ष्म से सूक्ष्म और बृहत् से बृहत् क्षेत्र मनुष्य के लिए खुलते जाते हैं उनके भीतर के नाना रमणीय और अद्भुत रूपों और

व्यापारों का—जो सर्वसाधारण को प्रत्यक्ष नही हैं—काव्य में उपयोग कर के उसके क्षेत्र का विस्तार न किया जाय। उनका प्रयोग किया जाय, कवि की प्रतिभा द्वारा वे गोचर रूप में सामने लाए जायँ, पर दूसरे प्रकार की रचनाओं में लाए जायँ, केवल अंग आभूषण आदि की उपमा के लिए नहीं। ज्योतिर्विज्ञान द्वारा खगोल के बीच न जाने कितने चक्कर खाते, बनते बिगड़ते, रंग बिरंग के पिंडों, अपार ज्योतिःसमूहों आदि का पता लगा है जिनके सामने पृथ्वी किसी गिनती में नहीं। कोई विश्व-व्यापिनी ज्ञानदृष्टि वाला कवि यदि विश्व की कोई गम्भीर समस्या ले कर उसे काव्य रूप में रखना चाहता है तो वह इन सब को हस्तामलक बना कर सामने ला सकता है।

सूरदास जी में जितनी सहृदयता और भावुकता है, प्रायः उतनी ही चतुरता और वाग्विदग्धता (Wit) भी है। किसी बात को कहने के न जाने कितने टेढ़े सीधे ढंग उन्हें मालूम थे। गोपियों के वचन में कितनी विदग्धता और वक्रता भरी है! वचन-रचना की उस वक्रता के सम्बन्ध में आगे विचार किया जायगा। यहाँ पर हम वैदग्ध्य के उस उपयोग का उल्लेख करना चाहते है जो आलंकारिक कुतूहल उत्पन्न करने के लिए किया गया है। साहित्य-प्रसिद्ध उपमानों को ले कर सूर ने बड़ी बड़ी क्रीड़ाएँ की हैं। कहीं उनको ले कर रूपकातिशयोक्ति द्वारा "अद्भुत एक अनूपम बाग" लगाया है; कहीं, जब जैसा जी चाहा है, उन्हें संगत सिद्ध करके दिखा दिया है, कहीं असंगत। गोपियाँ वियोग

में कुढ़ कर एक स्थान पर कृष्ण के अंगों के उपमानों को ले कर उपमा को इस प्रकार न्याय-संगत ठहराती हैं—

ऊधो ! अब यह समुझि भई ।
नंदनंदन के अंग अंग प्रति उपमा न्याय दई ॥
कुंतल कुटिल भँवर भरि भाँवरि मालति भुरै लई ।
तजत न गहरु कियो कपटी जब जानी निरस गई ॥
आनन इंदुवरन सम्मुख तजि करखे तें न नई ।
निरमोही नहिं नेह, कुमुदिनी अंतहि हेम हई ॥
तन घनश्याम सेइ निसिवासर, रटि रसना छिजई ।
सूर विवेक-हीन चातक-मुख बूँदौ तौ न सई ॥

इसी प्रकार दूसरे स्थान पर वे अपने नेत्रों के उपमानों को अनुपयुक्त ठहराती हैं—

उपमा एक न नैन गही ।
कविजन कहत कहत चलि आए, सुधि करि करि काहू न कही ॥
कहे चकोर, मुख-विधु बिनु जीवन; भँवर न, तहँ उड़ि जात ।
हरिमुख-कमलकोस बिछुरे तें ठाले क्यों ठहरात ?
खंजन मनरंजन जन जौ पै, कबहुँ नाहि सतरात ।
पंख पसारि न उड़त, मंद ह्वै समर समीप बिकात ॥
आए वधन व्याध ह्वै ऊधो, जौ मृग क्यों न पलाय ।
देखत भागि वसै घन वन में जहँ कोउ संग न धाय ॥
ब्रजलोचन बिनु लोचन कैसे ? प्रति छिन अति दुख बाढ़त ।
सूरदास मीनता कछू इक, जल भरि संग न छाँड़त ॥

दोनो उदाहरणां में उपमानों की उपयुक्तता और अनुपयुक्तता का जो आरोप किया गया है, वह हृदय के क्षोभ से उत्पन्न है, इसी से उसमें सरसता है काव्य की योग्यता है। यदि कोई कठ-हुज्जती इन्हीं उपमानों को ले कर कहने लगे—"वाह! नेत्र भ्रमर कैसे हो सकते हैं? भ्रमर होते तो उड़ न जाते। मृग कैसे हो सकते हैं? मृग होते तो ज़मीन पर चौकड़ी न भरते"। तो उसके कथन में कुछ भी काव्यत्व न होगा।

उपमानों की आनन्द-दशा का वर्णन कर के इसी प्रकार सूर ने 'अप्रस्तुत प्रशंसा' द्वारा राधा के अंगों और चेष्टाओं का विरह से द्युतिहीन और मंद होना व्यंजित किया है—

तब तें इन सबहिन सचु पायो।
जब ते हरि संदेस तिहारो सुनत ताँवरो आयो॥
फूले व्याल दुरे तें प्रगटे, पवन पेट भरि खायो।
ऊँचे वैठी विहंग-सभा बिच कोकिल मंगल गायो॥
निकसि कंदरा ते केहरिहू माथे पूँछ हिलायो।
बनगृह तें गजराज निकसि कै अँग अँग गर्व जनायो॥

चेष्टाओं और अंगो का मंद और श्रीहीन होना कारण है और उपमानों का आनन्दित होना कार्य्य है। यहाँ अप्रस्तुत कार्य्य के वर्णन द्वारा प्रस्तुत कारण की व्यंजना की गई है। गो० तुलसीदास जी ने जानकी के न रहने पर उपमानों का प्रसन्न होना राम के मुख से कहलाया है—

कुंदकली, दाड़िम, दामिनी। कमल, सरदससि, अहि-भामिनी॥

श्रीफल कनक कदलि हरपाहीं। नेकु न संक सकुच मन माहीं॥
सुनु जानकी! तोहि बिनु आजू। हरषे सकल पाइ जनु राजू॥

पर यहाँ उपमानों के आनन्द से केवल सीता के न रहने की व्यंजना होती है। सूर की 'अप्रस्तुत प्रशंसा' में उक्ति का चमत्कार भी कुछ विशेष है और रसात्मकता भी।

दूर की सूझ या ऊहावाले चमत्कार-प्रधान पद भी सूर ने बहुत से कहे हैं; जैसे—

(क) दूर करहु बीना कर धरिबो।
मोहे मृग नाहीं रथ हाँक्यो, नाहिन होत चंद को ढरिबो॥

(ख) मन राखन को बेनु लियो कर, मृग थाके उडुपति न चरै।
अति आतुर ह्वै सिंह लिख्यो कर जेहि भामिनी को करुन टरै॥

राधा मन बहलाने के लिए, किसी प्रकार रात बिताने के लिए, वीणा ले कर बैठीं। उस वीणा या वेणु के स्वर से मोहित हो कर चंद्रमा के रथ का हिरन अड़ गया और चंद्रमा के रुक जाने से रात और भी बढ़ गई। इस पर घबरा कर वे सिंह का चित्र बनाने लगीं जिससे मृग डर कर भाग जाय। जायसी की 'पदमावत' में भी यह उक्ति ज्यों की त्यों आई है—

गहै बीन मकु रैनि बिहाई। ससि-बाहन तहँ रहै ओनाई॥
पुनि धनि सिंह उरेहै लागै। ऐसिहि बिथा रैनि सब जागै॥

जायसी की पदमावत विक्रम संवत् १५९७ में बनी और सूरसागर संवत् १६०७ के लगभग बन चुका था। अतः जायसी की रचना कुछ पूर्व की ही मानी जायगी। पूर्व की न सही, तो

भी किसी एक ने दूसरे से यह उक्ति ली हो, इसकी सम्भावना नहीं। उक्ति सूर और जायसी दोनों से पुरानी है। दोनो ने स्वतंत्र रूप में इसे कवि-परंपरा द्वारा प्राप्त किया।

कही कहीं सूर ने कल्पना को अधिक बढ़ा कर, या यों कहिए कि ऊहा का सहारा ले कर—जैसा पीछे बिहारी ने बहुत किया—वर्णन कुछ अस्वाभाविक कर दिया है। चंद्र की दाहकता से चिढ़ कर एक गोपी राधा से कहती है—

कर धनु लै किन चंदहि मारि ?
तू हरुवाय जाय मंदिर चढ़ि ससि सम्मुख दर्पन विस्तारि।
याही भाँति बुलाय, मुकुर महि अति बल खंड खंड करि डारि॥

गोपियों का विरहोन्माद कितना ही बढ़ा हो, पर उनकी बुद्धि बिल्कुल बच्चों की सी दिखाना स्वाभाविक नहीं जँचता। कविता में दूर की सूझ या चमत्कार ही सब कुछ नहीं है।

पावस के घन-गर्जन आदि वियोगिनी को संतापदायक होते हैं, यह तो एक बँधी चली आती हुई बात है। सूर ने एक प्रसंग कल्पित कर के इस बात को ऐसी युक्ति से रख दिया है कि इसमें एक अनूठापन आ गया है। वे कहते हैं कि पावस आने पर सखियाँ राधा को मालूम ही नही होने देतीं कि पावस आया है। वे और और बातें बता कर उन्हें बहकाती रहती हैं—

बात बूझत यों बहरावति।
सुनहु श्याम ! वै सखी सयानी पावस ऋतु राधहि न सुनावति।
घन गरजत तौ कहत कुसलमति गूँजत गुहा सिंह समझावति॥

नहि दामिनि, द्रुम-दवा शैल चढ़ी, फिरि बयारि उलटी झर लावति।
नाहिन मोर बकत पिक दादुर, ग्वाल-मंडली खगन खेलावति॥

सूर को वचन-रचना की चतुराई और शब्दों की क्रीड़ा का भी पूरा शौक था। बीच बीच में आए हुए कूट पद इस बात के प्रमाण हैं, जिनमें या तो अनेकार्थवाची शब्दों को ले कर या किसी एक वस्तु को सूचित करने के लिए अनेक शब्दों की लंबी लड़ी जोड़ कर खेलवाड़ किया गया है। सूर की प्रकृति कुछ क्रीड़ाशील थी। उन्हें कुछ खेल तमाशे का भी शौक था। लीला-पुरुषोत्तम के उपासक कवि में यह विशेषता होनी ही चाहिए। तुलसी के गम्भीर मानस में इस प्रवृत्ति का आभास नही मिलता। अपनी इसी शब्द-कौशल की प्रवृत्ति के कारण सूर ने व्यवहार के कुछ परिभाषिक शब्दों को ले कर भी एक आध जगह उक्तियाँ बाँधी हैं; जैसे—

साँचो सो लिखवार कहावै।
काया-ग्राम मसाहत करि कै, जमा बाँधि ठहरावै।
मन्मथ करै कैद अपनी में, जान जहतिया लावै॥

काव्य में इस प्रकार की उक्तियाँ ठीक नहीं होतीं। आचार्य्यों ने 'अप्रतीतत्व' दोष के अन्तर्गत इस बात का संकेत किया है। सूर भी एक ही आध जगह ऐसी उक्तियाँ लाए हैं, पर वे 'प्रेम-फौजदारी' ऐसी पुस्तकों के लिए नमूने का काम दे गई हैं।

यहाँ तक तो सूरदास जी की कुछ विशेषताओं का अनुसन्धान हुआ। अब उनकी सम्पूर्ण रचना के सम्बन्ध में कुछ सामान्य

मत स्थिर करना चाहिए । पहले तो यह समझ रखना चाहिए कि सूरसागर वास्तव में एक महासागर है जिसमें हर एक प्रकार का जल आ कर मिला है । जिस प्रकार उसमें मधुर अमृत है उसी प्रकार कुछ खारी, फीका और साधारण जल भी। खारी, फीके और साधारण जल से अमृत को अलग करने में विवेचकों को प्रवृत्त रहना चाहिए। सूरसागर में बहुत से पद बिल्कुल साधारण श्रेणी के मिलेंगे। एक ही पद में भी कुछ चरण तो अनूठे और अद्वितीय मिलेंगे और कुछ साधारण, और कभी कभी तो भरती के। कई जगह वाक्य-रचना अव्य-वस्थित मिलेगी और छंद या तुकांत में खपाने के लिए शब्द भी कुछ विकृत किए हुए, तोड़े मरोड़े हुए, पाए जायँगे, जैसे 'रहत' के लिए 'राहत,' 'जितेक' के लिए 'जितेत,' 'पानी' के लिए 'पान्यों' इत्यादि । व्याकरण के लिंग आदि का विपर्य्यय या अनियम भी कहीं कहीं मिल जाता है । जैसे, 'सूल' शब्द कहीं पुल्लिंग आया है, कहीं स्त्रीलिंग। सारांश यह कि यदि हम भाषा पर सामान्यतः विचार करते हैं तो वह सर्वत्र तुलसी की सी गठी हुई, सुव्यवस्थित और अपरिवर्त्तनीय न मिलेगी। कही कही किसी वाक्य क्या किसी चरण तक को हम बदल दें तो कोई हानि न होगी। किसी किसी पद में कुछ वाक्य कुछ विशेष अर्थ-शक्ति नहीं रखते, चरण की पूर्त्ति करने का ही काम देते जान पड़ते हैं। बात यह है कि नित्य कुछ न कुछ पद बनाना उनका नियम था। उन्होंने बहुत अधिक पद कहे हैं।

फुटकर पद कहते चले गए है; इससे एक ही भाववाले बहुत से पद भी आ गए हैं और कहीं कहीं भाषा भी शिथिल हो गई है। अंधे होने के कारण लिखे पदों को सामने रख कर काटने छाँटने या हरताल लगाने का उन्हें वैसा मौका न था जैसा तुलसीदास को।

उपासना-पद्धति के भेद के कारण सूर और तुलसी की रचना में जो भेद कहा जाता है उस पर भी थोड़ा ध्यान देना चाहिए। तुलसी की उपासना सेव्य-सेवक भाव से कही जाती है और सूर की सख्य भाव से। यहाँ तक कि भक्तों में सूरदास जी श्रीकृष्ण के सखा उद्धव के अवतार कहे जाते हैं। यहाँ पर हमें केवल यह देखना है कि इस उपासनाभेद का सूर की रचना के स्वरूप पर क्या प्रभाव पड़ा है। यदि विचार कर के देखा जाय तो सूर में जो कुछ संकोच का अभाव या प्रगल्भता पाई जाती है वह गृहीत विषय के कारण। इन्होंने वात्सल्य और शृंगार ही वर्णन के लिए चुने हैं। जिसे बालक्रीड़ा और शृंगारक्रीड़ा का अत्यन्त विस्तृत वर्णन करना है वह यदि संकोच भाव छोड़ लड़कों की नटखटी, यौवन-सुलभ हास परि-हास आदि का वर्णन न करेगा तो काम कैसे चलेगा? कालि-दास ने भी कुमारसम्भव में पार्वती के अंग प्रत्यग का शृंगारी वर्णन किया है। तो क्या उनकी शंकर की उपासना भी सख्य भाव की हुई और उनका वह वर्णन उसी सख्य भाव के कारण हुआ? थोड़ा सा ध्यान देने से ही यह जाना जा सकता है कि

आरम्भ में सूर ने जो बहुत दूर तक विनय के पद कहे हैं, वे दीन सेवक या दास के रूप में ही कहे हैं। मिलान करने पर सूर की विनयावली और तुलसी की विनय-पत्रिका में सखा और सेवक का कोई भेद न पाया जायगा। विनय में सूर भी ऐसा ही कहते पाए जायँगे—"प्रभु! हौं सब पतितन को टीको"। यों तो तुलसी भी प्रेम भाव में मग्न हो कर सामीप्य और घनिष्ठता अनुभव करते हुए 'पूतरा बाँधने' के लिए तैयार हो गए हैं और शवरी आदि को तारने पर कहते हैं—"तारेहु का रही सगाई?"।

इसी साम्प्रदायिक प्रवाद से प्रभावित हो कर कुछ महानुभावों ने सूर और तुलसी में प्रकृति-भेद वताने का प्रयत्न किया है और सूर को खरा तथा स्पष्टवादी और तुलसी को सिफारशी, खुशामदी या लल्लो चप्पो करनेवाला कहा है। उनकी राय में तुलसी कभी राम की निन्दा नहीं करते; पर सूर ने "दो चार स्थानों पर कृष्ण के कामों की निन्दा भी की है; यथा—

(क) तुम जानत राधा है छोटी।

हम सों सदा दुरावति है यह, बात कहै मुख चोटी पोटी॥
नँदनंदन याही के बस हैं, बिबस देखि बेंदी छबि चोटी।
सूरदास प्रभु वै अति खोटे, यह उनहूँ तें अति ही खोटी॥

(ख) सखी री! श्याम कहा हित जानै।

सूरदास सर्वस जौ दीजै कारो कृतहि न मानै॥"

पर यह कथन कहाँ तक ठीक है, इसका निर्णय इस प्रश्न के उत्तर द्वारा झटपट हो सकता है। "सूरदास प्रभु वै अति

खोटे," "कारो कृतहि न मानै" इन दोनो वाक्यों में वाच्यार्थ के अतिरिक्त संलक्ष्य असंलक्ष्य किसी प्रकार का व्यंग्यार्थ भी है या नहीं ? यदि किसी प्रकार का व्यंग्य नहीं है तो उक्त कथन ठीक हो सकता है । पर किसी प्रकार का व्यंग्यार्थ न होने पर ये दोनो वाक्य रसात्मक न होंगे, इनमें कुछ भी काव्यत्व न होगा । पर हमारे देखने में ये दोनो वाक्य असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य के कारण रसात्मक हैं । इन दोनो पदों पर साहित्यिक दृष्टि से जो थोड़ा भी ध्यान देगा वह जान लेगा कि कृष्ण न तो वास्तव में खोटे कहे गए हैं, न कलूटे कृतघ्न । प्रथम पद में जो सखी की उक्ति है वह विनोद या परिहास की उक्ति है, सरासर गाली नहीं है । सखी का यह विनोद हर्ष का ही एक स्वरूप है और संचारी के रूप में प्रिय सखी राधा के प्रति रति भाव की व्यंजना करती है । इससे सखी के उस आनन्द का पता चलता है जो राधा कृष्ण के परस्पर प्रेम को देख उसे हो रहा है । इसी प्रकार दूसरा पद विरहाकुल गोपी का वचन है जिस से कुछ विनोद-मिश्रित अमर्ष व्यंजित होता है । यह अमर्ष भी यहाँ रति भाव का व्यंजक है, इसके कहने की आवश्यकता नहीं । यह आरम्भ मे ही कहा जा चुका है कि कृष्ण और गोपियों का प्रेम लोक-मर्य्यादा से परे जीवनोत्सव या क्रीड़ा के रूप में सामने रखा गया है । इस सम्बन्ध में हमारा केवल यही निवेदन है कि साम्प्रदायिक परिभाषाओं के चक्कर में साहित्यिक दृष्टि खो न देनी चाहिए ।

तुलसी पर दूसरा इलज़ाम, जिससे सूर बरी किए गए हैं, यह है कि वे रह रह कर फजूल याद दिलाया करते हैं कि राम परमेश्वर हैं। ठीक है, तुलसी ऐसा ज़रूर करते हैं। पर कहाँ ? रामचरित-मानस में। पर रामचरित-मानस तुलसी-दास का एक मात्र ग्रन्थ नहीं है। उसके अतिरिक्त तुलसी-दास जी के और भी कई ग्रन्थ है। क्या सब में यही बात पाई जाती है ? यदि नहीं, तो इसका विवेचन करना चाहिए कि रामचरित-मानस मे ही यह बात क्यों है। मेरी समझ मे इसके कारण ये हैं—

(१) रामचरित-मानस की कथा के वक्ता तीन हैं—शिव, याज्ञवल्क्य और काक-भुशुंडि। श्रोता हैं पार्वती, भरद्वाज और गरुड़। इन तीनो श्रोताओं ने अपना यह मोह प्रकट किया है कि कहीं राम मनुष्य तो नहीं हैं। तीनो वक्ता जो कथा कह रहे हैं वह इसी मोह को छुड़ाने के लिए। इसलिए कथा के बीच बीच में याद दिलाते जाना बहुत उचित है। गोस्वामी जी ने भूमिका में ही इस बात को स्पष्ट करके शंका की जगह नहीं छोड़ी है।

(२) रामचरित-मानस एक प्रबन्ध-काव्य है जिसमें कथा का प्रवाह अनेक घटनाओं पर से होता हुआ लगातार चला चलता है। इस दशा में कथा-प्रवाह में मग्न पाठक या श्रोता को असल बात की ओर ध्यान दिलाते रहने की आवश्यकता समय समय पर उस कवि को अवश्य मालूम होगी जो नायक

को ईश्वरावतार के रूप में ही दिखाना चाहता है। फुटकर पद्यों में इसकी आवश्यकता न प्रतीत होगी। सूरसागर की शैली पर तुलसी की 'गीतावली' है। उसमें यह बात नहीं पाई जाती। जब कि समान शैली की रचना मिलती है तब मिलान के लिए उसी को लेना चाहिए।

(३) श्रीकृष्ण के लिए 'हरि', 'जनार्दन' आदि विष्णुवाचक शब्द बराबर लाए जाते हैं, इससे चेतावनी की आवश्यकता नहीं रह जाती। गोपियों ने कृष्ण के लिए बराबर 'हरि' शब्द का व्यवहार किया है।

इस प्रसंग को छोड़ने के पहले इतना और कह देना चाहता हूँ कि जिस प्रकार तुलसी ने राम की सान्निध्य-प्राप्ति के कारण दशरथ, कौशल्या, केवट, शबरी, जटायु आदि के भाग्य को शिव, सनकादिक के भाग्य से भी बढ़ कर कहा है उसी प्रकार, उन्हीं शब्दों में, सूर ने भी जगह जगह नंद-यशोदा और गोप-गोपियों के भाग्य को सराहा है। यह भी याद ही दिलाना है कि कृष्ण परमेश्वर है।

सूरदास जी अपने भाव में मग्न रहनेवाले थे, अपने चारो ओर की परिस्थिति की आलोचना करनेवाले नही। संसार में क्या हो रहा है, लोक की प्रवृत्ति क्या है, समाज किस ओर जा रहा है, इन बातों की ओर उन्होंने अधिक ध्यान नहीं दिया है। तुलसीदास जी लोक की गति के सूक्ष्म पर्य्यालोचक थे। वे उसके बीच पैदा होनेवाली बुराइयों को

तीव्र दृष्टि से देखनेवाले थे। जिस प्रकार उन्होंने अपने समय की जनता की दुःख-दशा और दुर्वृत्ति तथा मर्य्यादा के ह्रास पर दृष्टिपात किया है, उसी प्रकार लोक-मर्य्यादा के ह्रास में सहायता पहुँचानेवाली प्रच्छन्न शक्तियों को भी पहचाना है। किस प्रकार उन्होंने कबीर, दादू आदि के लोक-विरोधी स्वरूप को पहचान कर उनके उद्धत व्यक्तिवाद के विरुद्ध घोषणा की, यह हम गोस्वामी जी की आलोचना में दिखा चुके हैं *। सूरदास जी अपने भाव भजन और मंदिर के नृत्य गीत में ही लीन रहते थे; इन सब अंदेशों से बहुत दुबले नहीं रहते थे। पर 'निर्गुन बानी' की जो हवा बह रही थी उसकी ओर उनके कान अवश्य थे।

तुलसी की आलोचना में हम सूचित कर चुके हैं कि तुलसी का ब्रजभाषा और अवधी दोनो काव्य-भाषाओं पर तुल्य अधिकार था और उन्होंने जितनी शैलियों की काव्य-रचना प्रचलित थी उन सब पर बहुत उत्कृष्ट रचना की है। यह बात सूर में नहीं है। सूरसागर की पद्धति पर वैसी ही मनोहारिणी और सरस रचना तुलसी की 'गीतावली' मौजूद है; पर रामचरित-मानस और कवितावली की शैली की सूर की कोई कृति नहीं हैं। इसके अतिरिक्त मनुष्य-जीवन की

* देखिए काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित "गोस्वामी तुलसीदास जी" नामक ग्रन्थ।

जितनी अधिक दशाएँ, जितनी अधिक वृत्तियाँ, तुलसी ने दिखाई है, उतनी सूर ने नहीं। तुलसी ने अपने चरित्र-चित्रण द्वारा जैसे विविध प्रकार के ऊँचे आदर्श खड़े किए हैं वैसे सूर ने नही। तुलसी की प्रतिभा सर्वतोमुखी है और सूर की एकमुखी। पर एकमुखी हो कर उसने अपनी दिशा में जितनी दूर तक की दौड़ लगाई है उतनी दूर तक की तुलसी ने भी नहीं; और किसी कवि की तो बात ही क्या है। जिस क्षेत्र को सूर ने चुना है उस पर उनका अधिकार अपरिमित है, उसके वे सम्राट् है।

सूर की विशेषताओं के इस संक्षिप्त दिग्दर्शन को समाप्त करने के पहले इतना और कह देने को जी चाहता है कि सूर में साम्प्रदायिकता की छाप तुलसी की अपेक्षा अधिक है। अष्टछाप में वे थे ही। उन्होंने अपनी अनन्य उपासना के अनुसार कृष्ण या हरि को छोड़ और देवताओं की स्तुति नहीं की है। ग्रन्थारम्भ में भी प्रथानुसार गणेश या सरस्वती को याद नही किया है। पर तुलसीदासजी की वन्दना कितनी विस्तृत है, यह रामचरित-मानस और विनय-पत्रिका के पढ़नेवाले मात्र जानते हैं। उनमें लोक-संग्रह का भाव पूरा पूरा था। उनकी दृष्टि लोक-विस्तृत थी। जन-समाज के बीच—या कम से कम हिन्दू समाज के बीच—परस्पर सहानुभूति और सम्मान का भाव तथा सुखद व्यवस्था स्थापित देखने का अभिलाष भी उनमें बहुत कुछ था। शिव और राम को एक दूसरे का उपासक बना कर उन्होंने शैवो और वैष्णवों में

भेदबुद्धि रोकने का प्रयत्न किया था। पर सूरदास जी का इन सब बातों की ओर ध्यान नहीं था।

जो तुलसीदास जी के ग्रन्थों को पढ़ता है वह उन्हें देवताओं से उदासीन भी नहीं समझता, उनका शत्रु और द्रोही समझना तो दूर रहा। इतने पर भी कुछ लोगों ने वनवास के करुण-प्रसंग के भीतर अथवा राम के महत्त्व आदि की भावना में लीन करनेवाले किसी पद में "सुर स्वारथी" आदि शब्द देख कर यह कहना बहुत जरूरी समझा है कि "सूर ने तुलसी के समान देवताओं को गालियाँ नहीं दी हैं"। इस पर यही समझ कर रह जाना पड़ता है कि यह मत-वैलक्षण्य के प्रदर्शन का युग है।

सूर की विशेषताओं पर स्थूल रूप से इतना विचार करने के उपरान्त अब हम उनकी उस संगीत-भूमि में थोड़ा प्रवेश करते हैं जो 'भ्रमरगीत' के नाम से प्रसिद्ध है और जिसमें वचन की भाव-प्रेरित वक्रता द्वारा प्रेम-प्रसूत न जाने कितनी अन्तर्वृत्तियों का उद्घाटन परम मनोहर है। 'भ्रमरगीत' का प्रसंग इस प्रकार आया है। श्रीकृष्ण अक्रूर के साथ कंस के निमंत्रण पर मथुरा गए और वहाँ कंस को मार कर अपने पिता वसुदेव का उद्धार किया। इसी बीच में कुब्जा नाम की कंस की एक दासी को उसकी सेवा से प्रसन्न हो कर उन्होंने अपने प्रेम की अधिकारिणी बनाया। जब अवधि बीत जाने पर भी वे लौट कर गोकुल न आए तब नंद, यशोदा तथा सारे व्रजवासी बड़े दुखी हुए। उन गोपियों के विरह का क्या कहना है जिनके साथ उन्होंने

इतनी क्रीड़ाएँ की थीं। बहुत दिनों पीछे श्रीकृष्ण ने ज्ञानोपदेश द्वारा गोपियों को समझाने बुझाने के लिए अपने सखा उद्धव को व्रज में भेजा। उद्धव ही को क्यों भेजा? कारण यह था कि उद्धव को अपने ज्ञान का बड़ा गर्व था, प्रेम या भक्ति मार्ग की वे उपेक्षा करते थे। कृष्ण का उन्हें गोपियों के पास भेजने में यह अभिप्राय था कि वे उनकी प्रीति की गूढ़ता और तन्मयता देख कर शिक्षा-ग्रहण करें और सगुण भक्तिमार्ग की सरसता और सुगमता के सामने उनका ज्ञान-गर्व दूर हो—

जदुपति जानि उद्धव रीति।
जेहि प्रगट निज सखा कहियत करत भाव अनीति॥
बिरह-दुख जहँ नाहिं जामत, नाहि उपजत प्रेम।
रेख, रूप न वरन जाके यह धरयो वह नेम॥
त्रिगुण तन करि लखत हमकों, ब्रह्म मानत और।
बिना गुण क्यों पुहुमि उधरै, यह करत मन डौर॥
बिरह-रस के मंत्र कहिए क्यों चलै संसार।
कछु कहत यह एक प्रगटत, अति भरयो हंकार॥
प्रेम भजन न नेकु याके, जाय क्यों समझाय?
सूर प्रभु मन यहै आनी, व्रजहि देहुँ पठाय॥

"त्रिगुण तन करि लखत हमकों, ब्रह्म मानत और" इसी भ्रम का निवारण कृष्ण चाहते थे। जगत् से ब्रह्म को सदा अलग मानना, जगत् की नाना विभूतियों में उसे न स्वीकार करना भक्तिमार्गियों के निकट बड़ी भारी भ्रान्ति है। "अहमात्मा

गुडाकेश, सर्वभूताशयस्थित:" इस भगवद्वाक्य को मन में बैठाए हुए भक्तजन गीता के इस उपदेश के अनुसार भगवान् के व्यक्त स्वरूप की ओर आकर्षित रहते हैं—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥

उद्धव बात बात में "एक प्रगटत"—अद्वैतवाद का राग अलापते थे। पर "बिरह-रस के मंत्र कहिए क्यों चलै संसार?"—रस-विहीन उपदेश से लोक-व्यवहार कैसे चल सकता है? रस-विहीन उपदेश किस प्रकार असर नहीं करते, यही दिखाने को भ्रमरगीत की रचना हुई है।

उद्धव के ब्रज में दिखाई पड़ते ही सारे ब्रजवासी उन्हें घेर लेते हैं। वे नंद यशोदा से सँदेसा कह चुकने के उपरान्त गोपियों की ओर फिर कर कृष्ण के संदेश के रूप में ज्ञान-चर्चा छेड़ते हैं। इसी बीच में एक भौंरा उड़ता उड़ता गोपियों के पास आ कर गुनगुनाने लगता है—

यहि अंतर मधुकर इक आयो।
निज सुभाव अनुसार निकट होइ सुंदर शब्द सुनायो ॥
पूछन लागी ताहि गोपिका "कुबजा तोहि पठायो।
कैधौं सूर श्यामसुंदर को हमैं सँदेसो लायो?" ॥

फिर तो गोपियाँ मानो उसी भ्रमर को संबोधन कर के जो जो जी में आता है, खरी खोटी, उलटी सीधी सब सुना चलती हैं। इसी से इस प्रसंग का नाम 'भ्रमरगीत' पड़ा है। कभी

गोपियाँ उद्धव का नाम ले कर कहती हैं, कभी उसी भ्रमर को संबोधन करके कहती हैं—विशेषतः जब परुष और कठोर वचन मुँह से निकालना होता है। शृंगार रस का ऐसा सुन्दर 'उपालम्भ काव्य' दूसरा नहीं है।

उद्धव को देखते ही गोपियों को सम्बन्ध-भावना के कारण कृष्ण के मिलने का सा सुख हुआ—

ऊधो ! पा लागौं भले आए।
तुम देखे जनु माधव देखे, तुम त्रय ताप नसाए॥

प्रिय के सम्बन्ध से बहुत सी वस्तुएँ प्रिय लगने लगती हैं। यही बात यहाँ अपने स्वाभाविक रूप में दिखाई गई है। इसी को बढ़ा कर बिहारी कुछ और दूर तक ले गए हैं। उनकी नायिका को नायक के भेजे हुए पंखे की हवा लगने से उलटा और पसीना होता है। यह एक तमाशे की बात ज़रूर हो गई है—

हित करि तुम पठयो, लगे वा बिजना की बाय।
टरी तपनि तन की तऊ चली पसीने न्हाय॥

सूर ने भी प्रिय की वस्तु पा कर 'सात्त्विक' होना दिखाया है, पर तमाशे के रूप में नहीं, अत्यन्त स्वाभाविक और मर्मस्पर्शी रूप में तथा अत्यन्त अर्थ-प्राचुर्य्य के साथ। उद्धव के हाथ से श्याम की पत्री राधा अपने हाथ में लेती हैं और—

निरखत अंक श्यामसुंदर के बार बार लावति छाती।
लोचन-जल कागद-मसि मिलि कै ह्वै गइ श्याम श्याम की पाती॥

आँसुओं से भींग कर स्याही के फैलने से सारी चिट्ठी काली हो हो गई, इससे कृष्ण-सम्बन्ध की भावना के कारण प्रबल प्रेमोद्रेक सूचित हुआ। आगे देखिए तो इस प्रेमोद्रेक की तीव्रता व्यंजित करने के लिए 'अंक' और 'श्याम' शब्दों में श्लेष कैसा काम कर रहा है। पत्री पा कर वैसा ही प्रेम उमड़ा जैसा कृष्ण को पा कर उमड़ता। कृष्ण की पत्री ही उनके लिए कृष्ण हो गई। जैसे वे कृष्ण के अंक (गोद अर्थात् शरीर) को पा कर आलिंगन करतीं वैसे ही कृष्ण के लिखे अंक (अक्षर) देख कर वे पत्री को बार बार हृदय से लगाती हैं। यहाँ भावाधिपति सूर ने भाव का और आधिक्य व्यंजित करने के लिए शब्द-साम्य की सहायता ऐसे कौशल से ली है कि एक बार शब्दों का साधारण अर्थ (अक्षर और काला) लेने से जिस भाव की अधिकता सूचित हुई फिर आगे उनका श्लिष्ट अर्थ (गोद और श्रीकृष्ण) लेने से उसी भाव की और अधिकता व्यंजित हुई। इससे जो लाघव हुआ है—मजमून में जो चुस्ती आई है—वह तो है ही, साथ ही प्रेम के अन्तर्भूत एक मानसिक दशा के चित्र का रंग कैसा चटकीला हो गया है! शब्द-साम्य को उपयोग मे लानेवाला सच्चा कवि-कौशल यही है।

यदि केशवदास के ढंग पर सूर भी यहाँ उक्त शब्द-साम्य को ले कर 'कृष्ण' और 'पत्री' की तुलना पर जोर देने लगते—कहते कि पत्री मानो कृष्ण ही है, क्योंकि वह भी श्याम है और उसके भी अंक (वक्षस्थल) है—तो काव्य की रमणी-

यता कुछ भी न आती। राधा को वह पत्री जो कृष्ण के समान लग रही है, वह सादृश्य या साधर्म्य के कारण नही, बल्कि सम्बन्ध-भावना के कारण, कृष्ण के हाथ की लिखी होने के कारण। केवल शब्दात्मक साम्य को ले कर यदि हम किसी पहाड़ को कहें कि यह बैल है क्योंकि इसे भी 'शृंग' है, तो यह काव्य-कला तो न होगी, और कोई कला हो तो हो। क्या जरूरत है कि शब्दों की जितनी कलाबाज़ियाँ हों, सब काव्य ही कहलावें ?

गोपियाँ कहती हैं कि हम ने इतने सँदेसे भेजे हैं कि शायद उनसे मथुरा के कूएँ भी भर गए होंगे; पर जो सँदेसा ले कर जाता है वह लौटता नहीं—

सँदेसनि मधुबन कूप भरे।
जो कोउ पथिक गए हैं ह्याँ ते फिरि नहिं गवन करे॥
कै वै श्याम सिखाय समोधे, कै वै बीच मरे ?
अपने नहि पठवत नँदनंदन हमरेउ फेरि धरे॥
मसि खूँटी, कागर जल भीजे, शर दव लागि जरे।

प्रिय से सम्बन्ध रखनेवाले व्यक्तियों या वस्तुओ का प्रिय लगना ऊपर दिखा आए हैं। इस पद में प्रेमाभिलाष की पूर्त्ति में जो वस्तुएँ बाधक होती हैं, सहायक नहीं होती या उपयोग मे नहीं आती, उनके ऊपर बड़ी सुन्दर झल्लाहट स्त्रियों की स्वाभाविक बोली मे प्रकट की गई है। पथिक सँदेसा ले कर गए, पर न लौटे; न जाने कहाँ मर गए! कोई चिट्ठी भी नहीं

आती है। मथुरा भर में स्याही ही चुक गई, या कागज़ भींग कर गल गए अथवा सरकंडों में (जिनकी कलम बनती है) आग लग गई, वे जल गए?

जो कोई पथिक उधर से हो कर निकलता है उसे रोक कर गोपियाँ अपना सँदेसा कहने लगती हैं। अब तो यह दशा है कि इसी डर से पथिकों ने उधर से हो कर जाना ही छोड़ दिया है—

सूरदास संदेसन के डर पथिक न वा मग जात।

ज्यों ही उद्धव अपना ज्ञान-संदेश सुनाना आरंभ करते हैं त्यों ही गोपियाँ चकपका कर पूछने लगती हैं—

हम सो कहत कौन की बातें ?
सुनि, ऊधो ! हम समझति नाहीं, फिरि बूझति हैं तातें॥
को नृप भयो, कंस किन मार्यो, को बसुद्यौ-सुत आहि ?
यहाँ हमारे परम मनोहर जीजत हैं सुख चाहि॥

गोपियों को यह 'चकपकाहट' उद्धव की बात की असंगति पर होती है। जिसने ऐसा सँदेसा भेजा है वह न जाने कौन है। परम प्रेमी कृष्ण तो हो नहीं सकते। इसका तात्पर्य्य यह नहीं कि वे सचमुच उद्धव को कृष्ण का दूत नहीं समझ रही हैं। वे केवल विश्वास करने की अपनी अतत्परता और आश्चर्य्य मात्र व्यंजित कर रही हैं। कृष्ण के सम्बन्ध से उद्धव भी गोपियों को प्रिय और अनोखे लग रहे हैं। इसी से बीच बीच में वे उन्हें बनाने और उनसे

परिहास करने लगती हैं। वे कृष्ण पर भी फबती छोड़ती हैं और उद्धव को भी बनाती हैं—

ऊधो ! जान्यो ज्ञान तिहारो।
जानै कहा राजगति लीला, अंत अहीर बेचारो ॥
आवत नाहिं लाज के मारे, मानहु कान्ह खिसान्यो।
हम सबै अयानी, एक सयानी कुबजा सों मन मान्यो ॥
ऊधो जाहु बाहँ धरि ल्याओ सुंदर श्याम पियारो।
ब्याहौ लाख, धरौ दस कुबरी, अंतहि कान्ह हमारो ॥

परिहास के अतिरिक्त अंतिम चरण में प्रेम की उच्च दशा के 'औदार्य्य' की कैसी साफ झलक है।

उद्धव कहते जाते हैं, पर गोपियों के मन में यह बात समाती ही नहीं कि यह कृष्ण का सँदेसा है। कभी वे कहती हैं—"ऊधो! जाय बहुरि सुनि आवहु कहा कह्यो है नंदकुमार"; कभी कहती हैं—"श्याम तुम्हैं ह्याँ नाहि पठाए, तुम हौ बीच भुलाने"। जब उद्धव बकते ही जाते हैं तब वे और भी बनाती हैं; कहती हैं कि ज़रा अपने होश की दवा करो—

ऊधो ! तुम अपनो जतन करौ।
हित की कहत कुहित की लागै, किन बेकाज ररौ ?
जाय करो उपचार आपनो, हम जो कहत है जी की।
कछू कहत कछुवै कहि डारत, धुन देखियत नहि नीकी ॥

बीच बीच में वे खिझला भी उठती है और कहती हैं कि तुम्हारे मुहँ कौन लगे, तुम तो सनक गए हो। वहाँ सिर खाने लगे थे

तभी तुम्हें यहाँ भेज कर श्रीकृष्ण ने अपना पल्ला छुड़ाया—

साधु होय तेहि उत्तर दीजै तुम सों मानी हारि।
याही तें तुम्हैं नँदनंदन जू यहाँ पठाए टारि॥

फिर चित्त में कुछ विनोद-वृत्ति के आ जाने पर वे कहती हैं—"भाई! खूब आए! इस दुःख-दशा में भी अपनी बेढब बातों से एक बार लोगों को हँसा दिया—

ऊधो! भली करी तुम आए।
ये बातें कहि कहि या दुख में ब्रज के लोग हँसाए॥"

प्रेम के जिस हास-क्रीड़ामय स्वरूप को सूर ने लिया है, विप्रलम्भ दशा के अश्रु और दीर्घ निश्वास के बीच बीच में भी बराबर उसकी क्षणिक और क्षीण रेखा झलक जाती है। श्याम गोपियों के पास नहीं हैं; उनके सखा ही संयोग से उनके बीच आ फँसे हैं जो सदा उनके पास रहते हैं। बस यही सम्बन्ध-भावना कृष्ण के संदेश की विलक्षणता की भावना के साथ मिलते ही रह रह कर थोड़ी देर के लिए वृत्ति को विनोदमयी कर देती है—

ऊधो हम आज भईं बड़ भागी।
बिसरे सब दुख देखत तुमकों, श्यामसुँदर हम लागीं॥
ज्यों दर्पन मधि दृग निरखत जहँ हाथ तहाँ नहि जाई।
त्यों ही सूर हम मिली साँवरे बिरह-बिथा बिसराई॥

मध्यस्थ द्वारा संयोग-सूत्र का कैसा सुन्दर स्पष्टीकरण सूर ने किया है! जो सम्बन्ध-भावना बीच बीच में गोपियों की वृत्ति

विनोदमयी कर देती है वह कभी कभी स्पष्ट शब्दों में निर्दिष्ट हो कर सामने आ जाती है और पाठक उसे पहचान सकते हैं; जैसे—

मधुकर ! जानत है सब कोऊ।
जैसे तुम औ मीत तुम्हारे, गुननि निपुन हौ दोऊ॥
पाके चोर, हृदय के कपटी, तुम कारे औ बोऊ।

उद्धव को जो 'पक्के चोर और कपटी' प्रेम के ये संबोधन मिल रहे हैं वह कृष्ण के संसर्ग के प्रसाद से।

ऐसेई जन दूत कहावत।
ऐसी परकृति परति छाहँ की जुवतिन जोग बुझावत॥

गोपियाँ कहती हैं कि बैठे बैठे योग और ज्ञान का सँदेसा भेजनेवाले कैसे हैं, यह हम अच्छी तरह जानती हैं—

हम तौ निपट अहीरि बावरी जोग दीजिए ज्ञानिन।
कहा कथत मामी के आगे जानत नानी नानन॥

कृष्ण की सम्बन्ध-भावना स्थान को भी कुछ अनुरंजक रूप प्रदान करती है—

बिलग जनि मानहु, ऊधो प्यारे !
वह मथुरा काजर की कोठरि जे आवहि ते कारे॥
तुम कारे, सुफलक-सुत कारे, कारे मधुप भँवारे।

गोपियाँ कहती हैं—'तुम्हारा दोष नहीं। वह स्थान ही ऐसा हो रहा है जहाँ से तुम आ रहे हो। एक कृष्ण से वहाँ ऐसी कृष्णता छा रही है कि तुम काले हो; अक्रूर जो आए थे वे

भी ऐसे ही काले थे ; और यह घूमता हुआ भौंरा भी (जो बहुत दिन वहाँ न रहा होगा, घूमता फिरता कभी जा पड़ा होगा) वैसा ही काला है।

उद्धव अपने ज्ञानोपदेश की भूमिका ही बाँध रहे थे कि गोपियों के मन में कुछ कुछ 'शंका' होने लगी—

मधुकर ! देखि श्याम तन तेरो।
हरिमुख की सुनि मीठी बातैं डरपत है मन मेरो॥
अब लौं कौन हेतु गावत है हम्ह आगे यह गीत।
सूर इते सों गारि कहा है जौ पै त्रिगुन-अतीत॥

'त्रिगुणातीत' होंगे, हमें इससे क्या ? तू क्यों वार वार यह कहता है ? कुछ भेद जान नहीं पड़ता।

उद्धव को कभी एक भोला भाला आदमी ठहरा कर गोपियाँ अनुमान करती हैं कि कहीं श्रीकृष्ण ने यह सँदेसा इनके हाथ भेज कर हँसी न की हो और ये इसे ठीक मान कर बक बक कर रहे हों। यही पता लगाने के लिए वे उद्धव से पूछती हैं—'अच्छा, यह तो बताओ कि जब वे तुम्हें सन्देश कह कर भेजने लगे थे तब कुछ मुस्कराए भी थे ?'

ऊधो ! जाहु तुम्हैं हम जाने।
साँच कहो तुमको अपनी सौं, बूझत बात निदाने।
सूर श्याम जब तुम्हैं पठाए तब नेकहु मुसकाने ?

यह अनुमान या 'वितर्क' रागात्मिका वृत्ति से सर्वथा निर्लिप्त शुद्ध बुद्धि की क्रिया नहीं है। संचारी 'मति' के समान यह

भी भाव-प्रेरित है ; हृदय की रागद्वेष वृत्ति से सम्बन्ध रखता है। किसी बात को मानने न मानने की भी रुचि हुआ करती है। कृष्ण के प्रेम को गोपियाँ छोड़ना नहीं चाहतीं ; अतः यह बात मानने को उनका जी नही करता कि कृष्ण ने ऐसा अप्रिय सन्देश भेजा होगा। जिस बात को कोई मानना नहीं चाहता उसको न मानने के वह अनेक रास्ते ढूँढ़ता है। बस, गोपियो के अन्तःकरण की यही स्थिति ऊपर के पद में दिखाई गई है।

उद्धव के ज्ञान-योग की गोपियाँ कितनी कद्र करती हैं, अब थोड़ा यह भी देखिए। जो ऐसी चीज ढोए फिरता है जिसे बहुत से लोग बिल्कुल निकम्मी समझ रहे हैं उसे वे बेवकूफ समझ कर ही नहीं रह जाते, बल्कि उसे बनाने में भी कभी कभी पूरी कल्पना खर्च करते हैं। बेवकूफी पर हँसने का रवाज़ बहुत पुराना है। लोग बना बनाया बेवकूफ पा कर हँसते भी है और हँसने के लिए बेवकूफ बनाते भी हैं। हास की प्रेरणा ही कल्पना को मूर्ख का स्वरूप जोड़ने और वाणी को कुछ शब्द-रचना करने में तत्पर करती है। गोपियाँ कुछ कुछ इसी प्रेरणावश उद्धव से नीचे लिखी बात उस समय कहती हैं जब वे घबरा कर उठने को तैयार होते हैं—

—उद्धव ! जोग बिसरि जनि जाहु ।
बाँधहु गाँठ, कहूँ जनि छूटै, फिरि पाछे पछिताहु ॥
ऐसी वस्तु अनूपम, मधुकर ! मरम न जानै और ।
ब्रजवासिन के नाहिं काम की, तुम्हरे ही है ठौर ॥

"देखना, अपना योग कहीं भूल न जाना। गाँठ में बाँध रखो; कहीं छूट जाय तो फिर पीछे पछताओ। ऐसी वस्तु जिसका मर्म सिवा तुम्हारे या तुम्हारे ऐसे दो चार फालतू दिमाग़ वालों के और कोई जान ही नहीं सकता वह ब्रजवासियों के किसी काम की नहीं। ऐसी फालतू चीज़ के लिए तुम्हारे ही यहाँ जगह होगी, यहाँ नहीं है"। जिसके सखा के दर्शन से विरह से मुरझाई हुई गोपियों में इतनी चपलता आ गई कि वे लड़कों की तरह चिढ़ाने को तैयार हो गईं उसके दर्शन से उनमें कितनी सजीवता आती, यह समझने की बात है। ज्ञान-योग पर भी कैसी मीठी चुटकी है। जिसे केवल एक आध आदमी समझते हैं वह वस्तु सब के काम की नहीं हो सकती। उद्धव जब उसे गले लगाते हैं तब गोपियों का भाव बदलता है और वे उन्हें सीधे सादे बेवकूफ़ नहीं लगते, बल्कि एक ठग या धूर्त्त के रूप में दिखाई पड़ते हैं। यह भावान्तर उनकी कल्पना को कैसा चित्र खड़ा करने लगाता है, देखिए—

(क) आयो घोष बड़ो व्यापारी।
लादि खेप यह ज्ञान-जोग की ब्रज में आय उतारी॥
फाटक दै कर हाटक माँगत भोरी निपट सु धारी।

(ख) ऊधो! ब्रज में पैंठ करी।
यह निर्गुन निर्मूल गाठरी अब किन करहु खरी॥
नफा जानिकै ह्याँ लै आए सबै वस्तु अकरी।

उदाहरण (ख) में 'निर्मूल' शब्द कितना अर्थ-गर्भित है। साधारण दृष्टि से तो यही अर्थ दिखाई पड़ता है कि 'बिना जड़ पते की वस्तुवाली' अर्थात् जिसमें कुछ भी नहीं है, शून्य है। पर साथ ही इस अर्थ का भी पूरा संकेत मिलता है—"जिसमें कुछ मूलधन या पास की पूँजी नहीं लगी है" अर्थात् वह (ज्ञान-गठरी) केवल किसी के मुहँ से सुन कर इकट्ठी कर ली गई है, उसमें हृदय नहीं लगा है—लग ही नहीं सकता—जो मनुष्य की असल पूँजी है। सूर ने यहाँ जिस बात को इस मार्मिक ढंग से कहा है उसी को गो० तुलसीदास जी ने दार्शनिक निरूपण के ढंग पर 'स्वानुभूति' और 'वाक्य-ज्ञान' का भेद बता कर कहा है—

वाक्य-ज्ञान अत्यंत निपुन भव पार न पावै कोई।
जिमि गृह मध्य दीप की बातन तम निवृत्त नहिं होई॥

पूर्ण तत्त्वाभास केवल कोरी बुद्धि की क्रिया से नहीं हो सकता, यह बात शंकराचार्य्य ऐसे प्रचंड वुद्धि के दार्शनिक को भी माननी पड़ी थी। पारमार्थिक सत्ता के बोध की संभावना उन्होंने बहुत कुछ स्वानुभूति द्वारा कही है, केवल शब्दबोध या तर्क द्वारा नही। वर्त्तमान समय का सब से आगे बढ़ा हुआ दार्शनिक बर्गसन (Bergson) भी कोरी बुद्धि-क्रिया को एकांगी, भ्रान्ति-जनक और असमर्थ बता कर स्वानुभूति (Intution) की ओर संकेत कर रहा है। एडवर्ड कार्पेंटर ने भी अपनी प्रसिद्ध अँगरेज़ी पुस्तक Civilization, its Causes and Cure मे वर्त्तमान समय की उस वैज्ञानिक प्रवृत्ति का विरोध किया है

जिसमें बुद्धि-क्रिया ही सब कुछ मानी गई है, मनुष्य के हृदय-पक्ष तथा स्वानुभूति-पक्ष का एकदम तिरस्कार कर दिया गया है। उसने 'शब्दबोध की प्रणाली' को 'अज्ञान प्रणाली' कहा है। वर्त्तमान काल के प्रसिद्ध उर्दू शायर अकबर ने भी 'बुद्धि-रोग' से छुटकारा पाने पर खुशी जाहिर की है—"मैं मरीज़े होश था, मस्ती ने अच्छा कर दिया"। यही पक्ष तुलसी, सूर आदि भक्तों का भी रहा है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने स्पष्ट कह दिया है कि अज्ञान ही के द्वारा—शब्दबोध के सहारे—तो ज्ञान की बातें कही जाती हैं। वे ललकार कर कहते हैं—"ज्ञान कहै अज्ञान बिनु, सो गुरु, तुलसीदास"।

जब उद्धव की बकवाद बंद नहीं होती, वे ऐसी बातें बकते ही जाते हैं जो गोपियों को बे सिर पैर की लगती हैं, जिनका कुछ स्पष्ट अर्थ नहीं जान पड़ता, तब वे ऊब कर झुँझला उठती हैं। कहती हैं—"तुझसे कौन सिरपच्ची करे—'ऐसी को ठाली बैठी है तोसों मूड़ खपावै' कह दिया कि तेरा सिर पटकना व्यर्थ है।

"कत श्रम करत, सुनत को ह्याँ है ? होत ज्यों बन को रोयो।
सूर इते पै समझत नाही, निपट दई को खोयो॥"

'निपट दई को खोयो'—स्त्रियों की झुँझलाहट के कैसे स्वाभाविक वचन हैं ! अंत में उद्धव पर इस प्रकार झल्ला उठती हैं—

(क) ऊधो ! राखति हौं पति तेरी।

ह्याँ ते जाहु, दुरहु आगे तें, देखति आँखि बरति हैं मेरी॥
ते तौ तैसेइ दोउ बने हैं, वै अहीर, वह कंस की चेरी।

(ख) रहु रे मधुकर मधु-मतवारे !

कहा करौं निर्गुन लैकै हौं ? जीवहु कान्ह हमारे ॥

क्या यह कहने की आवश्यकता है कि इस सारी 'झुँझलाहट' और 'झल्लाहट' (उग्रता) की तह में प्रेम की एक अखंड धारा बह रही है ?

यह झल्लाहट बराबर नहीं रहती। थोड़ी देर में शान्त भाव आ जाता है और 'मति' का उदय दिखाई पड़ता है—

(क) ऊधो ! जो तुम हमहिं सुनायो।

सो हम निपट कठिनई करिकै या मन को समझायो ॥

जुगुति जतन करि हमहुँ ताहि गहि सुपथ-पंथ लौं लायो।

भटकि फिर्‍यो बोहित के खग ज्यों, पुनि फिरि हरि पै आयो ॥

(ख) मधुकर ! हम जो कहौ करैं।

पठयो है गोपाल कृपा कै, आयसु तें न टरैं ॥

रसना वारि फेरि नवखँड कै दैं निर्गुन के साथ।

इतनी तनक विलग जनि मानहु, अँखियाँ नाहीं हाथ ॥

ध्यान रखना चाहिए कि यह 'मति' संचारी भाव है, बुद्धि की स्वतंत्र निर्लिप्त क्रिया नहीं है। यह कृष्ण के प्रेम का आधार लिए हुए है। उद्धव का उपदेश गोपियों के मन में बैठा हो, यह बात नहीं है। वे बड़ी मुश्किल से उसे मानने का जो प्रयत्न कर रही हैं, वह केवल इस खयाल से कि कृष्ण ने कहलाया है और उनके खास दोस्त कह रहे हैं। यह खयाल आते ही फिर तो वे अपनी विवशता का अनुभव मात्र सामने रखती हैं। वे

कहती हैं कि जबान तो कहो हम अभी 'निर्गुण' के हवाले कर दें ; तुम्हारी तरह मुहँ से 'निर्गुण निर्गुण' बका करें, या जबान ही कटा डालें—सब दिन के लिए मौन हो जायँ। पर आँखों से हम लाचार हैं ; वे दर्शन की लालसा नहीं छोड़ सकतीं।

कभी कभी उनकी वृत्ति अत्यन्त दीन और नम्र हो जाती है और उनके मुहँ से ऐसे वचन निकलते हैं—

(क) ऊधो ! हम हैं तुम्हरी दासी।
काहे को कटु बचन कहत हौ, करत आपनी हाँसी।

(ख) अपने मन सुरति करत रहिबी।
ऊधो ! इतनी बात श्याम सों समय पाय कहिवी।
घोष बसत की चूक हमारी कछू न जिय गहिबी॥

कहाँ वह 'उग्रता' और कहाँ यह अदब से भरी 'दीनता' !

ऐसी ही दशा के बीच राधा अपनी सखी से अपनी इस विह्वलता या 'मोह' की बात कहती हैं जिसके कारण उद्धव के आगे कुछ कहते नहीं बनता—

सँदेसो कैसे कै अब कहौं ?
इत नैनन्ह या तन को पहरो कब लौं देति रहौं ?
जो कछु विचार होय उर अंतर रचि पचि सोचि गहौं।
मुख आनत, ऊधो तन चितवत न सो विचार, न हौं॥

इस प्रकार वे अपनी दुःख-दशा कहते कहते थक जाती हैं। फिर वे सोचती हैं कि हमारी दशा पर कृष्ण कदाचित् उतना ध्यान न दें ; इससे वे नंद और यशोदा की व्याकुलता का

वर्णन करती हैं; गायों का दुःख सुनाती हैं कि कदाचित् उन्हीं का खयाल कर के वे एक बार आ जायँ—

ऊधो ! इतनी कहियो जाय ।
अति कृशगात भई हैं तुम बिन बहुत दुखारी गाय ॥
जल-समूह बरसत अँखियन तें, हूँकति लीन्हें नावँ ।
जहाँ जहाँ गोदोहन करते ढूँढ़ति सोइ सोइ ठावँ ॥

कृष्ण किसी प्रकार आवें, बस यही अभिलाष सब के ऊपर है। वे किसी खयाल से आवें ; आवें तो सही। बदले में कृष्ण भी वैसा ही प्रेम रखें, इतनी बड़ी बात की आशा गोपियों से अब नहीं करते बनती। अब तो वे बहुत थोड़े में सन्तुष्ट होने को तैयार हैं। केवल उनका दर्शन पा जायँ, बस। यह तोष-वृत्ति नैराश्य-जन्य है। नीचे के पद में जो 'क्षमा' या 'उदारता' है वह भी अभाव के दुःख की ही ओर से आती हुई जान पड़ती है—

ऊधो ! कहियो यह संदेस ।
लोग कहत कुब्जा-रस माते, तातें तुम सकुचौ जनि लेस ॥

जिसके न रहने से जीवन की धारा ही खंडित जान पड़ती है उसके दोषों का ध्यान कैसा ? वह आवे, चाहे दो चार और दोष भी साथ लगाता आवे। यह चीज़ की वह कदर है जो उसके न रहने पर मालूम होती है। वियोग के अन्तर्गत यह हृदय की बड़ी ही उदार दशा है। इसमें दृष्टि दोषों की ओर जाती ही नहीं। यह दशा दूसरे के दोषों को ही आँख के

सामने से नहीं हटाती, बल्कि स्वयं अपने में भी दोष सुझाने लगती है। प्रेम द्वारा आत्म-शुद्धि का यह विधान कैसा अचूक है! राधा अपनी एक एक त्रुटि का स्मरण या कल्पना करती हैं और व्याकुल होती हैं—

मेरे मन इतनी सूल रही।
वै बतियाँ छतियाँ लिखि राखीं जे नँदलाल कहीं॥
एक दिवस मेरे गृह आए, मैं ही मथति दही।
देखि तिन्हैं हौं मान कियो, सो हरि गुसा गही॥

कभी कभी उन्हें अपने प्रेम की ही कमी पर पछतावा होता है—

कहाँ लगि मानिए अपनी चूक।
बिनु गोपाल, ऊधो! मेरी छाती ह्वै न गई द्वै टूक॥

वियोग गोपियों के हृदय को कभी कभी कैसा कोमल, उदार और सहिष्णु कर देता है, इसकी कैसी अनुताप-मिश्रित सूचना इस पद में है—

फिर ब्रज बसहु, गोकुलनाथ!
बहुरि तुमहिं न जगाय पठवौं गोधनन के साथ॥
बरजौं न माखन खात कबहूँ, देहुँ देन लुटाय।
कबहूँ न दैहौं उराहनो जसुमति के आगे जाय॥
दौरि दाम न देहुँगी, लकुटी न जसुमति पानि।
चोरी न देहुँ उघारि, किए अवगुन न कहिहौं आनि॥
करिहौं न तुमसों मान हठ, हठिहौं न माँगत दान।
कहिहौं न मृदु मुरली बजावन, करन तुमसों गान॥

कहिहौं न चरनन देन जावक, गुहन वेनी फूल।
कहिहौं न करन सिंगार वट तर बसन जमुना-कूल॥
भुज भूषनन जुत कंध धरि कै रास नाहिं कराउँ।
हौं सँकेत निकुंज बसि कै दूति मुख न बुलाउँ॥
एक बार जो देहु दरसन प्रीति-पंथ बसाय।
करौं चौंर चढ़ाय आसन नैन अँग अँग लाय॥
देहु दरसन, नंदनंदन! मिलन ही की आस।
सूर प्रभु की कुँवर छबि को मरत लोचन प्यास॥

इन मर्म-भरी भोली-भाली प्रतिज्ञाओं में जो अनुताप, अधीनता और त्याग के उद्गार हैं उनका यह प्रेम-गर्वसूचक वाक्य "कहिहौं न चरनन देन जावक" स्मर्यमाण विषय होने के कारण विरोधी नहीं होता। उक्त पद में ध्यान देने की सब से बड़ी बात यह है कि प्रेम अब किस प्रकार चपल क्रीड़ा-वृत्ति छोड़ शान्त आराधना के रूप में परिणत होने को तैयार हो गया है। यह प्रेम का भक्ति में पर्य्यवसान है।—सुख-क्रीड़ा-त्याग रूप विरति पक्ष दिखा कर मानो सूर ने भक्तिमार्ग के शान्त रस का स्वरूप दिखाया है।

आत्मोत्सर्ग की पराकाष्ठा वहाँ समझनी चाहिए जहाँ प्रेमी निराश हो कर प्रिय के दर्शन का आग्रह भी छोड़ देता है। इस अवस्था में वह अपने लिए प्रिय से कुछ चाहना छोड़ देता है और उसका प्रेम इस अविचल कामना के रूप में आ जाता है कि प्रिय चाहे जहाँ रहे, सुख से रहे; उसका बाल भी बाँका न हो—

जहँ जहँ रहौ राज करौ तहँ तहँ, लेहु कोटि सिर भार।
यह असीस हम देति सूर सुनु 'न्हात खसै जनि बार'॥

बिरहोन्माद की गहरी व्याकुलता के बीच में भी यह कामना बराबर बनी रहती है। गोपियों को वियोग में चंद्रमा तपते सूर्य्य, गाय-बछड़े बाघ और भेड़िए जान पड़ रहे हैं। वे उद्धव से कहती हैं—'तुम तो यहाँ की दशा देख ही रहे हो; कह देना कि जब तक ये सब आफतें यहाँ से टल न जायँ, तब तक वहीं रहें; ऐसी हालत में यहाँ न आवें'—

ऊधो! इतनी जाय कहौ।
सब बल्लभी कहति हरि सों 'ये दिन मधुपुरी रहौ॥
आज कालि तुमहू देखत हौ तपत तरनि सम चंद।
सुंदर स्याम परम कोमल तनु, क्यों सहिहैं नँदनंद॥
मधुर मोर पिक परुप प्रबल अति बन उपबन चढ़ि बोलत।
सिंह बृकन सम गाय बच्छ ब्रज बीथिन बीथिन डोलत॥
तुम तौ परम साधु कोमलचित जानत हौ सब रीति।
सूर स्याम को क्यों बोलैं ब्रज बिन टारे यह ईति'॥

विरह घोर दुःख सहता हुआ भी यह कभी मन में नहीं लाता कि यह प्रेम दूर हो जाता तो अच्छा था। कोई मंत्रशास्त्री आ कर कहे—'अच्छा, हम वह प्रेम ही मंत्रबल से उड़ाए देते हैं जो सारे बखेड़े की जड़ है' तो कोई वियोगी शायद ही तैयार होगा—चाहे वह दुनिया भर से कहता फिरे कि 'प्रीति करि काहू सुख न लह्यो'। और दुःखों से वियोग-दुःख में यही विशेषता है।

वियोगी रस्सी तुड़ा कर प्रेम के वाड़े के बाहर नहीं भागना चाहता। गोपियाँ प्रेमक्षेत्र के बाहर की किसी वस्तु के प्रति कैसी उपेक्षा या लापरवाही प्रकट करती हैं—

मधुकर ! कौन मनायो मानै ?
सिखवहु तिनहिं समाधि की बातैं जे हैं लोग सयाने।
हम अपने व्रज ऐसेंइ बसिहैं बिरह-बाय बौराने॥

वे उद्धव को उलटा समझाती हैं कि विरह से भी प्रेम की पुष्टि होती है, वह पक्का होता है—

ऊधो ! बिरहौ प्रेम करै।
ज्यों बिनु पुट पट गहै न रंगहि, पुट गहे रसहि परै।
जौ आवाँ घट दहत अनल तनु तौ पुनि अमिय भरै॥

इसे प्रेम-सिद्धान्त का उपदेश मात्र समझ कर न छोड़िए, भाव के स्वरूप पर भी ध्यान दीजिए। यह प्रतिकूल स्थिति की अनिवार्य्यता से उत्पन्न 'आत्म-समाधान' की स्वाभाविक वृत्ति है। एक अफीमची घोड़ी पर सवार कहीं जा रहे थे। जिधर उन्हें जाना था उधर का रास्ता छोड़ घोड़ी दूसरी ओर चलने लगी। जब बहुत मोड़ने पर भी वह न मुड़ी तब उन्होंने बाग ढीली कर के कहा—"अच्छा, चल ! इधर भी मेरा काम है"। इसी प्रकार की अन्तर्वृत्ति इस वाक्य से भी झलकती है—

हम तौ दुहूँ भाँति फल पायो।
जौ व्रजनाथ मिलैं तौ नीको, नातरु

यह तो 'आत्म-समाधान' हुआ। दूसरे की कोई बात न मानने पर मन में कुछ खटक सी रहती है कि इसे दुःख पहुँचा होगा। अपनी इस खटक को मिटाने के लिए दूसरे के समाधान की प्रवृत्ति होती है; जैसे—

ऊधो! मनमाने की बात।
जरत पतंग दीप में जैसे औ फिरि फिरि लपटात।
रहत चकोर पुहुमि पर, मधुकर! ससि अकास भरमात।

इस समाधान के अतिरिक्त 'धृति' की भी व्यंजना देखिए—

अब हमरे जिय बैठ्यो यह पद 'होनी होउ सो होऊ'।
मिटि गयो मान परेखो, ऊधो! हिरदय हतो सो होऊ॥

'भ्रमरगीत' में कुब्जा का नाम भी बार बार आया है। इस के कारण 'असूया' की बड़ी वक्रतापूर्ण व्यंजनाएँ मिलती हैं। जब उद्धव कृष्ण का संदेश कह कर अपनी ज्ञान चर्चा छेड़ते हैं तभी गोपियाँ कहती हैं कि यह कृष्ण का संदेश नहीं जान पड़ता; यह तो उसी कुबड़ी पीठवाली की कारस्तानी मालूम पड़ती है—

मधुकर! कान्ह कही नहिं होहीं।
यह तौ नई सखी सिखई है निज अनुराग बरोहीं॥
सचि राखी कूबरी पीठ पै ये बातैं चकचोहीं।

फिर वे 'असूया' का भाव इन साफ शब्दों में प्रकट करती हैं कि इस समय कृष्ण की चहेती कुब्जा का ही जीवन सफल है—

जीवन मुहँचाही को नीको।

दरस परस दिन राति करति है कान्ह पियारे पी को ॥

वे उद्धव से कहती हैं कि तुम अपनी ज्ञान कथा वहीं रखो जहाँ इस समय खूब आनंद मंगल हो रहा है ; यहाँ जगह नहीं है—

या कहँ यहाँ ठौर नाहीं, लै राखो जहाँसुचैन।

हम सब सखि गोपाल-उपासिनि हमसों बातैं छाँड़ि।

सूर, मधुप ! लै राखु मधुपुरी कुबजा के घर गाड़ि ॥

'वहीं कुब्जा के घर गाड़ रखो' स्त्रियों के कैसे जले कटे स्वाभाविक शब्द हैं ! संदेश का उत्तर थोड़े ही में वे यह देती हैं कि यदि यह ज्ञान-योग ऐसी उत्तम वस्तु है तो इसे उस कुबड़ी को दो ; हमारे सामने वह (कृष्ण का) रूप ही कर दो ; हम अपना उसी को देखा करें—

पा लागौं कहियो मोहन सों जोग कूबरी दीजै।

सूरदास प्रभु रूप निहारैं, हमरे सम्मुख कीजै ॥

वे कृष्ण जिन्होंने इतनी गोपियों का मन चुराया, एक साधारण कुबड़ी दासी के प्रेम-जाल में फँस गए, इस पर देखिए कैसी मीठी चुटकी और कैसा कुतूहलपूर्ण कृत्रिम सन्तोष प्रकाशित किया गया है—

बरु वै कुबजा भलो कियो।

सुनि सुनि समाचार, ऊधो ! मो कछुक सिरात हियो ॥

जाको गुन, गति, नाम, रूप हरि हार्यो फिरि न दियो।

तिन अपनो मन हरत न जान्यो, हँसि हँसि लोग जियो ॥

क्षुब्ध हृदय की कैसी भाव-प्रेरित वचन-रचना है! इसी प्रकार की वाग्विदग्धता और वक्रता (बाँकपन) उद्धव के 'निराकार' शब्द पर आगे गोपियों की विलक्षण उक्ति में दिखाई पड़ती है। वे राधा को संबोधन करके कहती है—

मोहन माँग्यो अपनो रूप।

या ब्रज वसत अँचै तुम बैठी, ता बिनु तहाँ निरूप॥

'कृष्ण का रूप तो तुम पी गई हो', वह तुम्हारे हृदय में रह गया है (तुम निरंतर उनके रूप का ध्यान करती रहती हो) इससे वे वहाँ 'निरूप'—बिना आकार के—हो रहे है। उद्धव के द्वारा उन्होंने अपना वही रूप माँग भेजा है कि निराकारता मिटे। तुम जो रात दिन उनके रूप का ध्यान करती रहती हो उसे भी उद्धव छुड़ाने आए हैं, यह बात कितने टेढ़े ढंग से, किस वक्रता के साथ, प्रकट की गई है! वाणी ने यह वक्रता हृदय की प्रेरणा से, उठते हुए भावों की लपेट में, ग्रहण की है। इसकी तह में भाव-स्रोत छिपा हुआ है।

ऐसे ही बाँकपन के साथ वे कृष्ण के रूप का ध्यान हृदय से न निकलने का कारण बताती हैं—

उर में माखनचोर गड़े।

अब कैसहु निकसत नहिं, ऊधो! तिरछे ह्वै जो अड़े॥

जो लंबी चीज किसी बरतन में जा कर तिरछी हो जायगी, वह बड़ी मुश्किल से निकलेगी। कृष्ण की मूर्त्ति का राधा जब ध्यान करने लगती हैं तब उनकी त्रिभंगी मूर्त्ति ही ध्यान में

आती है, इसी से वह मन में अँटक सी गई है, निकलती नहीं है।

वचन की जो वक्रता भाव-प्रेरित होती है, वही काव्य होती है। "वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्" से यही वक्रता अभिप्रेत है, वक्रोक्ति अलंकार नहीं। भावोद्रेक से उक्ति में जो एक प्रकार का बाँकपन आ जाता है, तात्पर्य्य-कथन के सीधे मार्ग को छोड़ कर वचन जो एक भिन्न प्रणाली ग्रहण करते हैं, उसी की रमणीयता काव्य की रमणीयता के भीतर आ सकती है। भाव-प्रसूत वचन-रचना में ही भाव या भावना तीव्र करने की क्षमता पाई जाती है। कोई मनुष्य किसी को बड़ा बहादुर कह रहा है। दूसरे से सुन कर रहा नहीं जाता; वह कहता है—"हाँ! तभी न बिल्ली देख कर गिर पड़े थे"। कहनेवाला सीधी तरह से कह सकता था—"वह बहादुर नहीं, भारी डरपोक है; बिल्ली देख कर डर जाता है"। पर इस सीधे वाक्य से उसका सन्तोष नहीं हो सकता था। भीरु को वीर सुन कर जो उपहास की उमंग उसके हृदय में उठी, उसने श्रोताओं को भी उपहासोन्मुख करने के लिए बिल्ली से डरने को बहादुरी के सबूत में पेश करा दिया। काव्य की उक्ति का लक्ष्य किसी वस्तु या विषय का बोध कराना नहीं, बल्कि उस वस्तु या विषय के सम्बन्ध में कोई भाव या रागात्मक स्थिति उत्पन्न करना होता है। तार्किक जिस प्रकार श्रोता को अपनी विचार-पद्धति पर लाना चाहता है उसी प्रकार कवि अपनी भाव-पद्धति पर।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि 'विदग्धता' वहीं तक काव्योपयोगी हो सकती है जहाँ तक वह भाव-प्रेरित हो— जहाँ तक उसका कारण कोई भाव या कम से कम कोई रागात्मक दशा हो। 'विदग्धा नायिका' की वचन-विदग्धता या क्रिया-विदग्धता में काव्य की रमणीयता इसी लिए होती है कि उसकी तह में रति-भाव वर्त्तमान रहता है। किसी पुराने चोर या चाई की विदग्धता का ब्योरेवार वर्णन काव्य के अंतर्गत नहीं आ सकता; क्योंकि उसमें रसात्मकता नहीं। सूर ने कई स्थलों पर बालक कृष्ण की वचन-विदग्धता दिखाई है; जैसे—

मैं अपने मंदिर के कोने माखन राख्यो जानि।
सोई जाय तुम्हारे ढोटा लीनो है पहिचानि॥
बूझी ग्वालिन घर में आयो, नेकु न संका मानी।
सूर श्याम यह उतर बनायो 'चींटी काढ़त पानी'॥

इस विदग्धता में जो रमणीयता है वह इसी कारण कि इससे बाल-प्रकृति का चित्रण होता है और यह भय-प्रेरित है।

अब सूर ने अपने सिद्धान्त पक्ष का जो काव्यात्मक निरूपण किया है थोड़ा उसे भी दिखा कर इस प्रबन्ध को समाप्त करते है। उद्धव के ज्ञान-योग का पूरा लेक्चर सुन कर और उसे अपने सीधे सादे प्रेममार्ग की अपेक्षा कहीं दुर्गम और दुर्बोध देख कर गोपियाँ कहती हैं—

काहे को रोकत मारग सूधो ?
सुनहु, मधुप ! निर्गुन-कंटक ते राजपंथ क्यों रूँधो ?

ताको कहा परेखो कीजै जानत छाँछ न दूधो।
सूर मूर अक्रूर गए लै ब्याज निबेरत ऊधो॥

हम अपने प्रेम या भक्ति के सीधे और चौड़े राजमार्ग पर जा रही हैं। उस मार्ग में तुम ये निर्गुण-रूपी काँटे क्यों बिछाते हो? हमारा रास्ता क्यों रोकते हो? जैसे तुम्हारे लिए रास्ता है वैसे ही हमारे लिए भी है। तुम अपने रास्ते चलो, हम अपने रास्ते। एक दूसरे का रास्ता रोकने क्यों जाय? भक्ति और ज्ञान के सम्बन्ध में सूर का यही मत समझिए। वे ज्ञान के विरोधी नहीं, भक्ति-विरोधी ज्ञान के विरोधी हैं। गोपियों से वे उद्धव की बातो के अन्तिम उत्तर के रूप में कहलाते हैं—

बार बार ये वचन निवारो।
भक्ति-विरोधी ज्ञान तिहारो॥

मनुष्यत्व की पूर्ण अभिव्यक्ति रागात्मिका वृत्ति और बोधवृत्ति दोनो के मेल में है। अतः इनमें किसी का निषेध उचित नहीं। कोई एक की ओर मुख्यतः प्रवृत्त रहता है, कोई दूसरे की ओर। कुछ ऐसे पूर्ण-प्रज्ञ भी होते हैं जिनमें हृदय-पक्ष और बुद्धि-पक्ष दोनो की पूर्णता रहती है। वल्लभाचार्य्य जी ऐसे ही थे।

सूरदास जी वल्लभाचार्य्य जी के शिष्यों में से थे। वल्लभाचार्य्य जी ज्ञानमार्ग की ओर तो वेदान्त की एक शाखा के प्रवर्त्तक थे और भक्तिमार्ग की ओर एक अत्यन्त प्रेमोपासक सम्प्रदाय के। वल्लभाचार्य्य जी का अद्वैतवाद 'शुद्धाद्वैत' कहलाता है। रामानुजाचार्य्य जी ने अद्वैत को दो पक्षों (चित् और अचित्) से युक्त

या विशिष्ट दिखाया था। वल्लभ ने यह विशिष्टता हटा कर ब्रह्म को फिर शुद्ध किया। उन्होंने निरूपित किया कि सत्, चित् और आनन्द स्वरूप ब्रह्म अपने इच्छानुसार इन तीनो स्वरूपों का आविर्भाव (विकास) और तिरोभाव करता रहता है। जड़ जगत् भी ब्रह्म ही है, पर अपने चित् और आनन्द स्वरूपों का पूर्ण तिरोभाव किए हुए तथा सत् स्वरूप का कुछ अंशतः आविर्भाव किए हुए। चेतन जगत् भी ब्रह्म ही है जिसमें सत्, चित् और आनन्द इन तीनो स्वरूपो का कुछ आविर्भाव और कुछ तिरोभाव रहता है। इस सिद्धान्त में मायात्मक जगत् मिथ्या नहीं माना गया है। माया ब्रह्म ही की शक्ति मानी गई है जो उसी की इच्छा से विभक्त होती है। जीव अपने शुद्ध ब्रह्म-स्वरूप को तभी प्राप्त करता है जब आविर्भाव और तिरोभाव दोनो मिट जाते हैं; और यह बात केवल ईश्वर के अनुग्रह से ही, जिसे 'पुष्टि' या 'पोषण' कहते हैं, हो सकती है। इस अनुग्रह की प्राप्ति के लिए वल्लभाचार्य्य ने एक विस्तृत उपासना-पद्धति भी चलाई, जिसे 'पुष्टि मार्ग' कहते हैं। (रामानुज और वल्लभ दोनो का मोक्ष कैवल्य से भिन्न है। रामानुज की मुक्ति सारूप्य या सालोक्य मुक्ति है, वल्लभ की सायुज्य। जिस प्रकार वल्लभ की मुक्ति प्रेम के चरमानन्द की दशा है उसी प्रकार उनके उपास्य भी प्रेम-मूर्त्ति कृष्ण हैं।)

जगत् के नाना रूपो में ब्रह्म की जो प्रत्यक्ष सत्ता दिखाई पड़ रही है, उसका जो सगुण स्वरूप चारो ओर भासित हो रहा है,

है, उसका बार बार निषेध और निर्गुण ब्रह्म का अत्यन्त सूक्ष्म निरूपण सुन कर गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि तुम क्यों व्यर्थ तिनके की ओट में इतना भारी दमकता हुआ सुमेरु छिपाने का उद्योग कर रहे हो—

सुनिहै कथा कौन निर्गुन की, रचि पचि बात बनावत।
सगुन-सुमेरु प्रगट देखियत, तुम तृन की ओट दुरावत॥

उद्धव के ब्रह्म-निरूपण का कुछ भी आशय गोपियों की समझ में नहीं आता। वे पूछती हैं कि वह बिना रूप-रेखावाला तुम्हें कभी प्रत्यक्ष भी होता है, तुम्हें आकर्षित और मोहित भी करता है—

रेख न रूप, बरन जाके नहिं ताको हमैं बतावत।
अपनी कहौ, दरस वैसे को तुम कबहूँ हौ पावत?
मुरली अधर धरत है सो, पुनि गोधन वन वन चारत?
नैन विसाल, भौंह बंकट करि देख्यो कबहुँ निहारत?
तन त्रिभंग करि, नटवर वपु धरि पीतांबर तेहि सोहत?
सूरश्याम ज्यों देत हमैं सुख त्यों तुमको सोउ मोहत?

'बतावत' पद में असंगतता किस प्रकार व्यंग्य है! जिसकी न कोई 'रूप-रेखा' न वर्ण उसे बताना या बताने का प्रयत्न करना असंगत ही है। बताई वह वस्तु जाती है जिसका कुछ विशिष्ट स्वरूप होता है। पूर्णतया स्पष्ट और निर्दिष्ट अर्थ व्यक्त न होने पर भी कुछ शब्दों और वाक्यों को बार बार दुह-राना ही तो किसी वस्तुका सम्यक् साक्षात्कार नहीं है। यदि

किसी प्रकार मान भी लें कि तुमने उस निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप को समझा है तो यह बताओ कि वह स्वरूप तुम्हारे मन को मोहता भी है, तुम्हें कुछ आकर्षित भी करता है? यदि नहीं, तो वह व्यवहार या उपासना के योग्य नहीं, केवल तर्क-वितर्क के लिए ही है।

गोपियाँ आग्रह के साथ कहती हैं कि जिसमें तुम मन लगाने को कहते हो उसकी कोई ऐसी बात या ऐसा लक्षण तो बताओ, जिस पर मन ठहराया जा सके। पहले तो देश और काल के बीच उसका कोई स्थान हमारे लिए निर्दिष्ट कर दो—

निर्गुन कौन देस को बासी ?

मधुकर! हँसि समझाय; सौंह दै बूझति साँच, न हाँसी ॥

स्त्रियों के कैसे स्वाभाविक हाव-भाव-भरे ये वचन हैं— "कसम है, हम ठीक ठीक पूछती हैं, हँसी नहीं, कि तुम्हारा निर्गुन कहाँ का रहनेवाला है"। कुछ विनोद, कुछ चपलता, कुछ भोलापन, कुछ घनिष्ठता—कितनी बातें इस छोटे से वाक्य से टपकती हैं!

ज्ञानमार्गी वेदान्तियों और दार्शनिकों के सिद्धान्तों की लोक में अव्यवहार्य्यता तथा उनके बेडौल और भड़कीले शब्दों के अर्थों की अस्पष्टता और दुर्बोधता आदि की ओर गोपियों की यह झुँझलाहट कैसा संकेत कर रही है—

याकी सीख सुनै ब्रज को, रे!

जाकी रहनि कहनि अनमिल अति, कहत समुझि अति थोरे ॥

'इसकी बात कौन सुने जो कहता कुछ है और करता कुछ है; तथा जो ऐसी बातें मुहँ से निकालता है जिनको खुद बहुत ही कम समझता है'। पिछले कथन से सब के नही तो अधिकांश ब्रह्मज्ञान छाँटनेवालों के स्वरूप का चित्रण हो जाता है। वे बहुत से ऐसे बँधे हुए वाक्यों और शब्दों की झड़ी बाँधा करते हैं जिनके अर्थ की स्पष्ट धारणा उन्हें कुछ भी नहीं रहती। बिना समझी हुई बाते बककर वे लोगों के बीच बड़े समझदार बना करते हैं।

निर्गुण की नीरसता और सगुण की सरसता किस प्रकार अपने हृदय के सच्चे अनुभव के रूप में गोपियाँ उद्धव के सामने क्या, जगत् के सामने रखती हैं—

ऊनो कर्म कियो मातुल बधि मदिरा-मत्त प्रमाद।
सूरश्याम एते अवगुन में निर्गुन ते अति स्वाद॥

ज्ञानमार्ग का गोपियों ने तिरस्कार तो किया, पर यह सोच कर कि कही उद्धव का जी न दुखा हो, वे उनका समाधान भी करती हैं। वे समझती हैं कि ज्ञानमार्ग को हम बुरा नहीं कहती हैं, वह अत्यन्त श्रेष्ठ मार्ग है; पर अपनी रुचि को हम क्या करें? वह हमारे अनुकूल नहीं पड़ता। रुचि-भिन्नता दो सामान वस्तुओं में भी भेद कर के एक की ओर आकर्षित करती है और दूसरी से दूर रखती है—

ऊधो! तुम अति चतुर सुजान।
द्वै लोचन जो विरद किए श्रुति गावत एक समान।
भेद चकोर कियो तिनहू में विधु प्रीतम, रिपु भान॥

उद्धव अपनी सी कहते जा रहे हैं कि बीच में कोयल बोल उठती है। गोपियाँ चट उद्धव का ध्यान उधर ले जाती हैं—

ऊधो ! कोकिल कूजत कानन।

तुम हमको उपदेस करत हौ भस्म लगावन आनन ॥

वह सुनो ! कोयल कूक रही है। तुम तो हमें राख मलने को कह रहे हो; उधर प्रकृति क्या कह रही है, वह भी सुनो।

HODDER AND STOUGHTON'S
PEOPLE'S LIBRARY

General Editor · Sidney Dark